श्रीरामो जयति ।

कथा-कादम्बिनी

कथामुखों से सङ्गृहीत

प्रकाशक—

साहित्य-भवन, लिमिटेड,

प्रयाग ।

सं० १९७९ वि०

प्रथमावृत्ति] [मूल्य ॥।)

श्रीरामो जयति

प्रस्तावना

न्दी में आज कल जितने नये नाटक और उपन्यास निकले हैं उनमें से अधिकांश अनुदार भावों के पोषक हैं। पाश्चात्य शैली का अनुसरण तो किया जाता है, परन्तु राष्ट्रीयता के नामपर संकुचित विचारों को प्रथम स्थान दिया जाता है। इधर अपनी कला का बहिष्कार किया जाता है उधर अनुदारता का प्रचार किया जाता है। इन दोनों के मिलन से साहित्य की उन्नति के स्थान में अवनति ही होने की सम्भावना है। हिन्दी साहित्य में प्रेम, दया, दाक्षिण्य आदि सद्गुणों के आदर्श तो अब दिखलाई नहीं देते, उनके स्थान में एक विकृत समाज का विकृत चित्र ही दृष्टिगोचर होता है। जब कोई पाश्चात्य साहित्य की किसी विशेषता की प्रशंसा करता है अथवा जब वह उनकी कला का आदर्श बतलाता है तब हम उसपर मनमाने आक्षेप कर बैठते हैं।

पर हम स्वयं विदेशी कला की निकृष्ट शैली का अनुकरण करने से बाज़ नहीं आते। हमें चाहिये कि हम अपनी यथार्थ अवस्था की भली भांति परीक्षा कर लें, अपने गुण और दोषों की अच्छी तरह विवेचना कर लें, विदेशी साहित्य की भी कला और आदर्श की समीक्षा कर उन से अपनी राष्ट्रीयता के अनुकूल विश्व-भाव ग्रहण कर लें। अनुदारता और असहिष्णुता से अपनी ही हानि होती है।*

"गत २५ या ३० वर्षों में हिन्दी-साहित्य ने चञ्चल नाटकीय-दृश्य के समान बड़ी ही तीव्र उन्नति की है परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इसके अनेक विभागों में से बहुतों की कमी अभी पूरी नहीं हुई है। कथा साहित्य जिसने सब से अधिक लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का सौभाग्य प्राप्त किया है या तो वह विशेष कर बङ्ग भाषा के तीसरे दर्जे के नाविलों, उपन्यासों या गल्पों के ढङ्ग पर ढल रहा है या वह एक बनारसी सज्जन के मस्तिष्क से निकला हुआ असम्भव घटनाओं से पूर्ण कथानक है। यद्यपि यह अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिये कि इन उपन्यासों ने ऐसे पाठकों के एक बड़े समूह का ध्यान आकर्षित किया है जो इन चमत्कृत लेखों के कारण ही हिन्दी सीखने के लिये

---

* "सरस्वती" भाग २३ खं० १ अङ्क ४ पृ० २६०-६१

विवश हुए हैं, तिस पर भी खेद के साथ यह कहा जा सकता है कि उन्होंने पाठकों की रुचि को बिगाड़ दिया है। श्री प्रेमचन्द जी ने उस प्रवृत्ति के प्रतिकूल अपना प्रयत्न आरम्भ किया और वे छोटी छोटी कहानियाँ लिखने लगे जिनसे कोई न कोई शिक्षा मिलती है। अब हमें यह लिखते हुए बड़ी प्रसन्नता है कि अयोध्यापुरी के दो विद्वान् साधु, महात्मा श्री शालकराम विनायक और श्रीविन्दु ब्रह्मचारी ने इस विषय की एक अच्छी पत्रिका निकाली है जिसके प्रत्येक अङ्क में तीन या चार छोटी छोटी कथाएँ रहती हैं। जिनकी सामग्री हिन्दू, बौद्ध और जैन साहित्य से ली जाती है और जो पूर्ण लेखन चातुर्य्य से सर्वोत्कृष्ट चित्ताकर्षक शैली से लिखी जाती हैं। ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि प्रत्येक कहानी पाठक को किसी उच्च भाव लोक में, किसी विशद सूक्ष्म आदर्श पर, किसी श्रेष्ठ विचाराकाश में उड़ा ले जाती है। पत्रिका का प्रथम वर्ष पूर्ण हो गया और हम सञ्चालकों को अब तक प्राप्त सफलता के लिए बधाई देते हैं। ऐसे लेखों को प्रोत्साहित करना प्रत्येक हिन्दू का मुख्य कर्त्तव्य है और हम आशा करते हैं कि पत्रिका शीघ्र सुविस्तृत क्षेत्र प्राप्त कर लेगी जिसके लिए वह सर्वथा योग्य है।" *

---

* अंग्रेज़ी दैनिक "लीडर" ६ अक्टूबर सन् १६२१ ई०।

एक विद्वान् के शब्दों में "कथामुखी" की कथाओं में "प्राचीन भारतवर्ष की गौरवान्वित सभ्यता का अति ही मनोज्ञ चित्रण रहता है।" * "भाषा आलङ्कारिक और सरस होती है।" † "इन कथाओं के पढ़ने से अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त होता है और पाठक ऐसे अभिनव साम्राज्य में सञ्चरण करने लगता है जो संसार के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, द्वेष, असूया, निन्दा आदि पाशविक वृत्तियों से निर्लिप्त है।" ‡ "स्त्रियों के लिए जैसे इसकी कथाओं में मातृत्व और सतीत्व की ओज भरी शिक्षा भरी रहती है, पुरुषों के लिए वैसे ही सुमार्ग पर ले जाने के लिए उपयोगी उपदेश मौजूद रहते हैं।" ‖ "कथामुखी की निराली छटा, शब्द सौष्ठव, सालङ्कार मन्द मन्द गमन, रसों का साङ्कर्य्य, मनोमोहक आख्यान और धार्मिक व्याख्यान, ये सभी बातें हिन्दी-साहित्य के सौन्दर्य्य का विकास कर रही हैं।......मार्मिकता और लेख पटुता की पद पद पर झलक दिखा रही हैं।" ¶

प्रेम-पत्रिका "कथा मुखी" का हिन्दी-साहित्य में कैसा

---

* सुबुध ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी पं० रामवल्लभाशरण जी।

† "सरस्वती" भाग २१ ख० २ अङ्क १

‡ "ब्राह्मण-सर्वस्व।

‖ "जासूस"।

¶ पं० भगवानदास ब्रह्मचारी साहित्य-वेदतीर्थ।

उच्च स्थान है, उपर्युक्त अवतरणों से आप ही आप प्रकट हो जाता है। सच तो यह है कि इसके द्वारा भारत के लुप्त इतिहास का उद्धार हो रहा है, क्योंकि इसकी कथाएँ कोरी काल्पनिक नहीं, सत्य घटनामूलक होती हैं। अतः सर्वसाधारण के लाभार्थ, विशेषतः स्कूल और कालिजों के छात्रों के उपकारार्थ मैंने केवल सात कथाओं को चुनकर "कथा कादम्बिनी" के नाम से प्रकाशित किया है। आशा है कि इसके द्वारा समाज में बहुतायत से फैली हुई कुरुचि का निवारण होगा, आगामि सन्तान का चरित-सुधार होगा और भारतीय जनता अपने पूर्वजों की विशुद्ध और परिमार्जित एवं परिष्कृत लीक पर आ जायगी।

अन्त में 'कथामुखी' के प्रवर्त्तक एवं सम्पादक अयोध्या निवासी युगल महात्माओं को, इन कथाओं के उद्धृत करने तथा पुस्तकाकार प्रकाशित करने की आज्ञा देने के लिए, धन्यवाद देकर इस प्रस्तावना को समाप्त करता हूं।

विनीत

व्रजराज

प्रधान मंत्री,

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

कथा-सूची

ॐ

कथा-कादम्बिनी

अनिला और देवरात

१
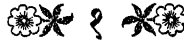
आज अमावास्या है। परसों—नरसों अक्षय तृतीया है। उसदिन देवरात ज़रूर यहाँ आजायगा। अब ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि वह आर्य होना स्वीकार करले और भिक्षुक न होने पावे।

ऐसा नहीं हो सकता, धन्या! वह अपने मनका पूत है, हठी है और किसी की सुनता नहीं। जब वह निरा बालक था और उससे कहा जाता था कि वह धारिणियाँ कण्ठ करले तब तो उसने माना ही नहीं और अग्रहारमें नाना जप-तप के साथ भिक्षुक-शिक्षा ग्रहण

करने के लिए चलपड़ा और अब तो वह पूर्ण पण्डित होकर हम से अन्तिम भेंट करने और भिक्षा लेने आ रहा है। तो क्या हमारे लिए यही उचित है कि हम उसका व्रतभङ्ग कर उसे मोक्षमार्ग से वञ्चित करदें, उसके उमङ्ग और उत्साह की टांग तोड़दें और उसके अमृततुल्य जीवन को दुःखमय बना दें ?

धन्या। प्राणनाथ ! यह उचित नहीं है, सही, पर हम को तो कोई दूसरी सन्तान भी नहीं है जिसके द्वारा साध पूरी होगी।

पति। तुम समझती नहीं हो, धन्या ! मनुष्य को पुत्र-कलत्र से भी बढ़कर यश प्यारा है। जब मैंने तुम्हारा पाणिग्रहण किया था और भिक्षुक व्रतका विसर्जन हुआ था तब मेरी जैसी लोकमें निन्दा हुई थी उसको मैं ही जानता हूँ। घरसे बाहर निकलना दूभर हो गया था। वह ग्लानि अब भी दूर नहीं हुई है। ऐसी दशा में यदि हमारा पुत्र सुचरित्र भिक्षुक होगा तो मेरी आत्मा को सन्तोष होगा और मेरे शिरसे कलङ्ककी टीका भी धुल जायगी।

पति की बातें सुनकर धन्या चुप होगई।

नर्मदा के किनारे जइयारी एक ग्राम है। इसमें आर्य लोग रहते हैं। विवाह कर लेने के कारण या किसी प्रकार स्त्री का संसर्ग हो जाने के कारण जो भिक्षुक पद से पतित होजाते हैं वेही आर्य कहलाते हैं। ये लोग बौद्धधर्म्म को धारिणियाँ

कण्ठ करके बड़े प्रवीण बन जाते हैं और बौद्धमत के अनुयायियों से खूब पुजाते हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग खेती भी करते हैं और शिल्पकारी से भी धन पैदा करते हैं। इसी गाँव में भट्टारक नामक एक आर्य रहते हैं। धन-धान्य से सम्पन्न हैं। पचास से ऊपर हल चलते हैं और प्रजा में भी बड़ा सम्मान है। धन्या उन्हीं की स्त्री का नाम है। इनको एक ही पुत्ररत्न है। उसी का नाम देवरात है। वह भिक्षुक होने के लिए रामगढ़ आश्रम में शिक्षा पा रहा था। अब वह पूर्ण रूप से शिक्षित हो कर दीक्षित होने के लिए तैय्यार है। धर्म्मरक्षित नामक आचार्य्य ने उसको आज्ञा दी है कि "तुम अपने पिता-माता से प्रथम भिक्षा मांग लाओ तब भिक्षुकाश्रम में भरती हो सकते हो।" इसी आज्ञा के अनुसार वह अक्षय तृतीया को आ रहा है। इधर आर्य लोग अच्छी तरह से तुले हुए हैं कि उसके आते ही तुरत उसका विवाहकर दिया जाय। खैरी गाँव से प्रसिद्ध आर्य ध्रुवसिन्धु की कन्या अनिला से उसका सम्बन्ध भी ठीक हो गया है। सब लोग बड़ी उत्सुकता से अक्षय मुहूर्त्त को परख रहे हैं।

२
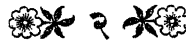
रामगढ़-आश्रम में सत्ताइस भिक्षुक रहते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक युवक भिक्षु-धर्म्म की शिक्षा पा रहे हैं। उनमें से देवरात और गोविन्द की शिक्षा समाप्त हो चुकी है और दोनों

अपने गृह को भिक्षा लेने के लिए जानेवाले हैं। इन दोनों में बड़ा प्रेम है। दोनों एक साथ गुरु को प्रणाम करके चले। कुछ दूर तो दोनों साथ साथ आए। पर वीरसिंहपुर से गोविन्द दूसरे मार्ग से जाने के लिए विवश हुआ। उसने कहा—"भाई देवरात! अब साथ छूटता है। मैं अपने घरको जाऊँगा और परसों लौटकर यहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगा। तुम भी उस दिन ज़रूर चले आना। घरपर टिकना नहीं, प्रपञ्च में फँस जाओगे।"

देवरात। तुम परसों की बात कहते हो; मैं तो आज पहुँचूँगा, कल सब से मिल-मिलाकर भिक्षा लेकर तुरत चल दूंगा। आशा है कि मैं तुमसे पहले ही यहाँ पहुँच जाऊँ। हाँ, एक बात है। हम में से जो पहले पहुँचे वह यहाँ टिक जाय। जब दोनों इकट्ठे हों तब साथ ही आश्रम को चलें।

गोविन्द विदा हो कर अपने घर गया। और देवरात खैरी की ओर चला। खैरी से आगे कुछ दूर पर उसका गाँव पड़ता था। खैरी ही में पहुँचते पहुँचते सन्ध्या हो गई। अतः वह वहीं टिक जाने के लिए विवश हुआ। यहाँ ध्रुवसिन्धु आर्य पहले ही से उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्योंही देवरात गांव में घुसा, लोग उसको पहचान गए। और आदरपूर्वक उसे ध्रुवसिन्धु के द्वारपर लिवा लेगये। वह भी देखते ही उठ खड़ा हुआ और ब्रह्मचारी को सुन्दर आसन देकर सम्मान किया।

साथ ही रात को वहीं ठहर जाने के लिए आग्रह किया। देव-रात तो चाहता ही था। सहर्ष स्वीकार करके टिक गया। उस रात को बड़ी विधि से उसकी पहुनाई हुई। जब सब लोग खापीकर सोगए तब अनिला अपनी प्यारी सखी प्रमीला को साथ लेकर अपने भावी पति के दर्शन को आई। रात अँधेरी थी पर ब्रह्मचारी के मुखचन्द्र की प्रभा फैल रही थी। अनिला उस छविपर मुग्ध हो गई, खड़ी होकर एकटक देखने लगी। उसकी यह दशा देखकर प्रमीला ने धीरेसे कहा–"बस, चलो, नहीं तो कोई जाग जायगा। अब तो चार दिन के बाद ये तुम्हारे कण्ठ के हार बनेहींगे।"

अनिला। "बहन! चलती हूँ। एक बार निकट पहुँच कर दर्शन कर लूँ। क्या जाने, भाग्य में क्या बदा है?"

यह कह कर वह आसन के पास जा कर खड़ी हो गई। अच्छी तरह देखने भी नहीं पाई थी कि प्रमीला ने चलने का संकेत किया। इतने में ब्रह्मचारी की भी निद्रा भङ्ग हुई। उस-की आँखें खुलीं और शीघ्रगामिनी अनिला के मुखमण्डल पर पड़ीं। वह तो उसी समय घर के भीतर चली गई; पर नव-युवक देवरात की आँखें प्यासी की प्यासी ही रह गईं। काम-देव ने अवसर पाकर उसके मन को मथना आरम्भ किया। चित्त चंचल होगया। भीतर की शान्ति जाती रही। वह उठ-बैठा और मार-सूत्र का पाठ करने लगा। कुछ देर में उसका

चित्त सावधान हुआ और वह अपनी स्थितिपर विचार करने लगा। "वह सुन्दरी कौन थी? मेरे पास क्यों आई थी? रूप-रङ्ग से तो कोई देवलोक की विभूति मालूम होती है। तो क्या देवताओं ने उसे मेरे तप की परीक्षा लेने के लिए भेजा था। नहीं, नहीं, देवराज ऐसा कभी नहीं कर सकता; क्योंकि उसने भगवान् बुद्ध के सामने प्रतिज्ञा की है कि जो आप का अनुयायी होगा उस पर हमारा शासन नहीं है। तो फिर वह नायिका थी कौन और मुझ से उससे क्या सम्बन्ध? जिसने मेरे मन को डुला दिया वह कोई मनुष्या नहीं हो सकती। अवश्य कोई अप्सरा है, जो आकाशमार्ग से कहीं जा रही होगी। और कौतुकवश यहाँ उतर पड़ी। तो फिर वह इस घर में क्यों घुस गई? उसे तो आकाश में उड़ना चाहिए था। सो मालूम होता है कि वह इसी घर की लक्ष्मी है, इसी उपवन की लता है।"

इस प्रकार मन ही मन विचारता हुआ वह युवक फिर लेट गया। नींद आ गई। और उसने स्वप्न में फिर उसी रूप-राशि को देखा। पर इसमें और ही छटा थी। वह सुन्दरी आकाश-गङ्गा में स्नान करती हुई उसके चरणों पर पड़ी और रो रो कर कहने लगी—"नाथ। यह आप के अङ्ग योग्य नहीं है, हाँ, सेवा करने की इच्छा अवश्य होती है।" देवरात ने कहा—"मैंने तो कुछ और ही प्रकार का जीवन-निर्वाह करने

का विचार स्थिर किया है। आप ही की तरह मैंने भी किसी की सेवा की ठानी है। जो स्वयं सेवक हो वह किसी का स्वामी कैसे बन सकता है?" अनिला—"हाँ, एक मार्ग है। आप की शरण में प्राप्त हूं, अङ्गीकार ही करना उचित है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने शरणापन्न वेश्या तक को अपनाया है। जिसके लिए अङ्गीकार और तिरस्कार दोनों दशाओं में कोई दूसरी गति नहीं है उस पर दया आनी चाहिए। साधु तो दया की मूर्त्ति ही होते हैं। इससे और अधिक अब मत कहलाइए।"

देवरात इसके उत्तर में कुछ कहना ही चाहता था कि इतने में उसका मित्र गोविन्द आ गया। वह स्त्री के साथ बातें करते देखकर उसपर बहुत बिगड़ा और कहा—आज से तू अपनी राह और मैं अपनी राह। भिक्षुक व्रत लेने की इच्छा रख कर स्त्री से बातें करना! राम! राम! छी छी!" इतना कहकर वह उलटे पाँव चला गया। उसी समय देवरात की आँखें खुल गईं।

३

गोविन्द की बातें देवरात के हृदय में चुभ गई थीं। उसको फिर नींद नहीं आई। सोचते-विचारते सवेरा हो गया। आसन उठाया, आर्य लोग एकत्र हुए। सबसे बिदा हो कर वह जइयारी के लिए रवाना हुआ। दिन ढलते-ढलते

अपने घर पहुंच गया। रास्ते भर गोविन्द की बातों ही पर मनन करता रहा। सबसे पहले उसके पिता का एक चाकर मिला। वह द्वार बुहार रहा था। पहले उसने देवरात को पहचाना नहीं, पर परिचय देने पर जान गया और बहुत प्रसन्न हुआ। उसने भीतर जाकर कहा—"चलिए, चलिए, भैया आगए। विवाह करने योग्य ऐसी अच्छी अवस्था हो गई है कि हर एक अङ्गपर अपूर्व छटा छहरा रही है।" प्रेमविह्वल पिता ने आकर पुत्र को हृदय से लगाया और अपने को धन्य माना। आनन्दाश्रु आँखों में छलछला आए। देवरात के हृदय पर भी इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। नैसर्गिक प्रेम का प्रवाह बह चला और स्नेह-गंगा के शीतल जल में स्नान करके दोनों कृतकृत्य होगए। यह अपूर्व दृश्य था। इसे देखने के लिए पड़ोसी दौड़ आए और वे भी पुलकित हुए। देवरात भीतर गया। माता का चरण चूमा। माता ने गोद में बैठाकर, अंचल से आँसू पोंछ कर कहा—"आज धन्यभाग! जैसे भगवान् ने दाहना जाँघ भर दिया वैसे ही जब बाँया जाँघ पवित्र होगा तब मेरा जन्म भी सफल हो जायगा।"

अनन्तर मुंह-हाथ धोकर भोजन करने के उपरान्त वह एकान्त भवन में विश्राम करने के लिए गया। बैठा रहा, कुछ सोचता रहा। चाकर और माता की अभिलाषा का स्मरण होते ही उसे कँपकँपी होने लगी। उसे आनन्द के बदले दुःख

मालूम होने लगा। क्योंकि गोविन्द की फटकार वह कभी भूल नहीं सकता था। कंकण का बन्धन उसके लिए कारागार के बन्धन के समान था। वह अपने प्रेमी स्वभाव के कारण बड़े एँचपेंच में पड़ गया था। तिसपर भी उसने अपने दिल को कड़ा किया और अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ होने की चेष्टा करने लगा। मन ही मन अपनी वृत्ति को बटोर कर कहने लगा—"मनुष्य का चोला बड़े भाग्य से मिलता है, बार बार नहीं मिलता। अतः यह विषय-सुख भोगने के लिए नहीं है। इसको तो भगवान् ने परमार्थ का साधन बताया है। फिर मैं क्या पढ़ लिख कर ऐसा मूर्ख होगया हूं कि हानि-लाभ का विचार कुछ भी नहीं कर सकता? गुरु से क्या कहूंगा और सहयोगियों को क्या मुंह दिखाऊंगा? भिक्षापात्र भरने आया हूं, उसे भराकर चल देना चाहिए। अधिक समय तक यहाँ ठहरना ठीक नहीं है।"

इस प्रकार वह अपने मन को दृढ़ करके बड़े बड़े मनसूबे बाँधने लगा। इतने में सन्ध्या होगई। खेरी से एक ब्राह्मण पूगफल अष्टधातु और अक्षत लेकर आया। उसका स्वागत हुआ। देवरात के पिता ने उसे पुकारा। वह बाहर आया और पिता के पास बैठगया। ब्राह्मण ने संकेत पाकर उन माङ्गलिक द्रव्यों को मंत्रोच्चारणपूर्वक देवरात के हाथ में देकर आशीर्वाद दिया। इस कृत्य का तात्पर्य देवरात न समझ सका। उसने

यही समझा कि ब्राह्मण ने ऐसा करके मेरा कल्याण मनाया है। पर जब ब्राह्मण देवता ने लग्नपत्री निकाली और बताया कि आगामी शुक्लाष्टमी को विवाह है तब उसका मत्था ठनका। अब वह अपने को न सँभाल सका। उसने ब्राह्मण से पूछा—"किसका विवाह अष्टमी को होगा ?"

ब्राह्मण—"यहाँ आपको छोड़ कर और कौन विवाह करने योग्य है। रात जहां आप ठहरे थे उसी घर में आपका विवाह होगा। वैसी रूपवती कन्या तो मैंने अजतक नहीं देखी। आर्य-कुल में तो उसने जन्म लिया है पर वह वास्तवमें राजकुल की शोभा बढ़ानेवाली है।"

यह सुनकर देवरात बहुत क्षुब्ध हुआ। पर वह स्वभाव से ही विनयी था। पिता के सामने कुछ कह न सका। वहाँ से उठकर घर में चला गया और उसी एकान्त भवन में जाकर पल्ला बन्द करके बैठा। अपनी परिस्थिति और प्रतिज्ञापर पुनः विचार करने लगा। कभी प्रवृत्ति मार्ग की तरफ़ और कभी निवृत्ति की ओर उसका मन उत्तरायण और दक्षिणायन सूर्य्य की तरह झुकने लगा।

४
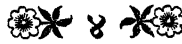
गोविन्द आज दो दिन से वीरसिंह पुर में टिका हुआ है। अपने मित्र की प्रतीक्षा कर रहा है। मन बहलाने के लिए उसने इन दो दिनों में "रसहृदय" नामक एक ऐसा अपूर्व

ग्रन्थ लिख डाला कि उसका अर्थ रसायन शास्त्र और रसशास्त्र दोनों पर घटता था। वह प्रसन्न मन से देवरात को दिखलाने के लिए बहुत उत्सुक हो रहा था। अन्त में उससे नहीं रहा गया और जइयारी पूछता पूछता वहां पहुँच गया। वहाँ ग्रन्थ सुनाना और पसन्द करना तो दूर रहा, और ही दृश्य उपस्थित था। आर्यलोग सबके सब देवरात को विवाह करने के लिए मजबूर कर रहे थे और वह भिक्षाकपाल लिए अपने पिता के सामने खड़ा था। भट्टारक की इच्छा थी कि प्यारे पुत्र को भिक्षा देकर सम्मानपूर्वक बिदा किया जाय परन्तु पंच की राय इसके विरुद्ध थी। दोनों तरफ असमंजस था।

यह दृश्य देखकर गोविन्द चकित होगया। मित्र को बेबसी की दशा में देखकर वह आतुर हो उठा। उसने कहा—"आप लोग व्यर्थ में धर्म्म के काम में अड़ङ्गा डाल रहे हैं। विवाह करने से तो एक ही लाभ है—सन्तान सुख और भिक्षुकव्रत लेने से देशोपकार, यश इह लोक में और निर्वाण की प्राप्ति परलोक में सिद्ध है। ऐसी दशा में आपका आग्रह ठीक नहीं।"

इसपर एक वृद्ध आर्य ने कहा—"यदि यह विवाह कर लेगा तो हमारा सम्बन्ध यहां से लेकर स्वर्ग तक स्थिर रहेगा और यदि भिक्षुक हो जायगा तो नाता एक दम टूट जायगा। और सबसे कठिन बात तो यह है कि उस कन्या की क्या

मति होगी जिससे सम्बन्ध दृढ़ हुआ है। उसी अबला के कारण हम इतना हठ कर रहे हैं।"

इधर बातें हो ही रही थीं कि भट्टारक ने अन्न से, उमंग में आकर, उसका भिक्षा-पात्र भर दिया। देवरात ने पिता को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और माता के पास गया। वहाँ अनिला पहले ही से सास के पास बैठी हुई थी। आर्यकुमार देखते ही पहचान गया और यह भी समझ गया कि ईश्वर मेरी कड़ी से कड़ी परीक्षा ले रहा है। उसने आँख मूंद कर खड़े खड़े मार-सूत्र † का पाठ किया। अपनी वृत्ति को सम्भाल कर आगे बढ़ा। परन्तु पूज्यचरण माता के सामने खड़े होते ही पानी पानी हो गया। अश्रुधारा बह चली। गंगा और यमुना के बीच सरस्वती की धारा भी मिल गई। कुछ देर तक तो "कोउ कुछ कहे न कोउ कछु पूछा," फिर देवरात सम्भल कर बोला—"माँ! मोह में मत पड़। परमार्थ को भिक्षा दे। अपनी कोख को सफल कर।"

इस बात को सुनते ही माँ और भी ज़ोर से रोने लगी। देवरात उसे चुप कराने के लिए समझाने-बुझाने लगा। माता सावधान हुई और उसने कहा—"बेटा! क्या तुमको दया नहीं आती? जबसे तुम जन्मे तबसे न जाने कितने और

† मारसूत्र एक बौद्ध ग्रंथ है जिसके पाठ से कामविकार का शमन होता है। क०—सम्पादक।

कैसे कैसे हौसले मेरे मन में उठे ! हा पुत्र ! तूने क्या किया ? अब मेरी साध कैसे पूरी होगी ? देख ! यह तेरे नाम पर शिर सौंपे बैठी है । इसकी क्या गति होगी ? इसका निर्वाह कैसे होगा ?"

देवरात—"अम्बे ! मोह माया को थोड़ी देर के लिए भुला कर सोचोगी तो तुमको अपने दिल से ही उत्तर मिल जायगा । मानलो कि मेरी मृत्यु आई और मैं मरगया; तब क्या होगा ? क्या उसको कोई टाल सकता है ? कभी नहीं । इस पर तुम यही कहोगी कि वह गति दैवाधीन है, उसे तो किसी न किसी प्रकार सहना ही पड़ता है । सो, इस पर धर्मराज का उपदेश है कि 'जो दुःख दैवाधीन होने से, कर्मबन्धन में पड़ने से सहने पड़ते हैं उन्हें क्यों नहीं इच्छापूर्वक सहकर परमार्थ साधन किया जाय ।' देखो, पिता जी ने यही समझ-बूझकर तो भिक्षा दी है ।"

धन्या । "बेटा ! जो तू कहता है उसे मैं भी समझती हूं । पर क्या करूं, जो नहीं मानता । भिक्षा देने के लिए हाथ नहीं उठते । विवश हूँ । अनिला ने कहा—"माता ! आपके सङ्कोच को मिटाने के लिए यह दासी स्वयं भिक्षापात्र भरने को तैयार है । हाँ, भिक्षा देकर यह किंकरी भी आर्य-पुत्र से एक भिक्षा मांगेगी ।"

इतना कह कर उसने तीन मुट्ठी अन्न कपाल में डाल दिया। उसके साहस को देखकर और उसकी बातें सुनकर धन्या चकित होगई। और देवरात को भी कुछ कम आश्चर्य नहीं हुआ। उसने अपनी मां को सम्बोधन करके कहा—"मैं भी भिक्षा देने को तैयार हूं।"

अनिला। "बस, मैं कृतार्थ होगई। मेरी इच्छित भीख मुझे मिल गई। इससे बढ़कर सात्विक स्त्री के लिए और क्या चाहिए! आर्यपुत्र के हृदय में मेरे लिए भी स्थान है, इस बात का परिचय मुझे मिल गया। यह मेरे लिए कुछ कम है? सम्पूर्ण शृङ्गारिक सुख भोग का भी तो अन्त में यही नतीजा है।"

अनिला के इस भाव का प्रभाव दोनों पर पड़ा। धन्या ने कहा–"अब तो मुझे भी भिक्षा देनी पड़ी। पर बेटा! आज नहीं। मेरे कहने से तू भाँवरी फेर ले। तुम दोनों को एक आसनपर ब्याह साज-समाज के साथ आँख भर देख लूं। तो तुरत भिक्षा दे दूँगी।"

देवरात। "एवमस्तु"।
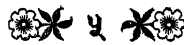
गोविन्द। "तुम ने बड़ा अनर्थ किया, देवरात! अब तुम मायाजाल में बेतरह फँस गए। उससे छुटकारा पाना बड़ा ही

कठिन है। फिर मुझे क्यों रोकते हो, मुझे जाने दो। मैं यहाँ रह कर ही क्या करूँगा।"

देवरात। "पूज्य बन्धु! तुम्हारे ही कहने से तो पिता ने भिक्षा दी। अब तो केवल माता से भिक्षा लेनी है, वह भी वचनबद्ध हो चुकी है। विवाह हो जाने पर वह भी प्रसन्नता-पूर्वक भिक्षा दे देगी। तब साथ ही चलेंगे। तुम्हारे यहां रहने से मुझे ढारस है, बड़ा भारी सहारा है। तुम्हारे सत्सङ्ग से विराग की वृत्ति दृढ़ होती है।"

गोविन्द। "तुम भ्रम में पड़े हो। विवाह होने पर तुम्हारी माता भिक्षा दे देगी, इसमें मुझे सन्देह है। और पिता की दी हुई भिक्षा कोई मूल्य नहीं रखती। हाँ, एक बात है। तुम्हारी भावी स्त्री ने जो साहसपूर्वक भिक्षा दे दी है उसी सुकृत-रूपी नाव पर चढ़ कर इस भयानक नदी के पार हो जाओ तो हो जाओ, नहीं तो मुझे इसमें भी सन्देह है। क्योंकि स्त्रियों का विश्वास नहीं। नारी-चरित्र का मर्म बड़े बड़े भी नहीं समझ पाते, धोखा खा जाते हैं। अस्तु, इस जाल से निकलने की आशा अब सोलह आने में एक आना है। ऐसी दशा में मुझे मत रोको। तुम प्रसन्नतापूर्वक विवाह करके पिता-माता की साध पूरी करो। आर्यधर्म्म का निर्वाह करो। वह भी बड़ा ही हृदय-विद्रावक दृश्य होगा जब तुम विवाह करके बिना अपनी पत्नी से मिले और उसे सन्तुष्ट किए

भिक्षुकव्रत लेने के लिए घरसे चल दोगे। तुम्हारे परिवार के हृदय पर क्या बीतेगा, इसका कुछ ठिकाना है !"

देवरात। "भैया ! तुम मेरे अनन्य मित्र हो। मैं इस समय धर्मसङ्कट में पड़ गया हूं। अपने कर्त्तव्य का पालन करो। अधिक क्या कहूँ।"

गोविन्द। "मुझे व्यर्थ में रोक रहे हो। मेरा रहना यहाँ ठीक नहीं है। आर्य लोग सब के सब मुझ पर विगड़ गए हैं। वे समझते हैं कि मैं ही तुम्हें बहका रहा हूँ। अस्तु, वे मुझ पर वार ज़रूर करेंगे। फिर आज मैंने एक स्वप्न भी देखा है। कि एक सन्त ने मुझ से स्वप्न में संकेत द्वारा कहा—"यहाँ से टल जाओ।" सो, मैं यहाँ से जाकर वीरसिंह पुर में रहूँगा। जब तुम आओगे तब साथ ही चलेंगे।"

देवरात। "ऐसी बात है तो मैं तुम्हें न रोकूंगा। तुम आज ही चले जाओ। मार्ग में कहीं टिक जाना। कल वहाँ पहुंच जाओगे।"

गोविन्द। "हां, यही ठीक है। मैं अभी चला जाता हूं। अभी सन्ध्या होने में देर है। दो चार कोश निकल जाऊँगा।"

उसी समय गोविन्द वहाँ से चला गया।

६
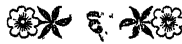
विवाह हो चुका। वर-कन्या कोहबर में पधारे। कुछ देर तक कुलदेवी की पूजा हुई और स्त्रियां सहाना गाती रहीं। फिर

एक एक कर के बाहर चली गईं और एक सुचतुर सखी ने द्वार की सिकड़ी चढ़ा दी। उस समय आर्य लोगों में ऐसी ही प्रथा थी। देवरात का हृदय धड़कने लगा। रात्रि का समय; स्त्री के संग एकान्त वास। उस समय उसकी कठिन परीक्षा हो रही थी। उस धीर वीर ने अपनी वृत्ति सँभाल कर संयम में दृढ़ किया। और अनिला? वह नारीगण—सुलभ लज्जा से शिर निहुराए एक ओर दबकी रही। इन दोनों की दशा उस रङ्गरञ्जनी रजनी में कोक-दम्पति की तरह थी। कुछ देर में बाहर का कोलाहल शान्त हुआ। घरवाले भी सुख की नींद लेने लगे। देवरात का ध्यान टूटा। दीपक जल रहा था। उसकी दृष्टि अपनी सुशीला भार्य्यापर पड़ी। उसने अपने मन में कहा—"कल जब मैं इसे सदा के लिए छोड़ जाऊँगा तब मेरे वियोग में इस अबला की क्या दशा होगी! यह जीवित रह सकेगी, इसमें सन्देह है। हा दैव! तू ने क्यों ऐसा सम्बन्ध जोड़ा? तुझे दया नहीं आई!" उधर अनिला ने भी अपने मन से कहा—'हे मन! क्या ऐसा सुअवसर फिर फिर प्राप्त होगा? इसे क्यों व्यर्थ का आडम्बर धारण करके खोरहा है? जो करना है सो आज इसी समय करले। कल कुछ नहीं हो सकता। और लज्जे! तू अब मेरा पिंड छोड़ दे। सुहाग की रात मना लेने दे।" इतना विचार कर उसने ओज में आकर अपना घूंघुट हटा दिया। और संभल
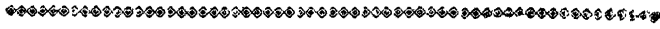
कर बैठ गई। देखा कि प्रियतम प्रेमभरी दृष्टि से उसी की ओर देख रहा है। उसकी आंखों में जल भर गया। पर वह उसे कैसे गिरावे। इस दृश्यको देखकर देवरात व्यथित हुआ। उसका धीरज छूट गया। उसका मन प्रिया को हृदय से लगाने के लिए व्याकुल हो उठा। उसने कहा—प्रियतमे! तुम्हारी क्या दशा हो रही है? तुम मेरी पत्नी हो चुकीं। लोक वेद, दोनों हमारे पत्न में हैं। आओ तुम्हें एक बार हृदय से लगा लूं।"

अनिला। "प्राणनाथ! तुम्हारी कृपा और दया में कुछ सन्देह नहीं। पर मेरे भाग्य खोटे हैं। यह दासी आपके अङ्ग-योग्य नहीं है। विधाता ने इसका विधान ही नहीं किया है। पर आपने सचमुच अपनी कृपामृतधारा से ब्रह्मा की लिपि को धो दिया है। मेरे सुहागतरु को प्रेम जल से सींच कर पल्लवित कर दिया है। मुझे सब सुख प्राप्त हो गया। मेरे सब मनोरथ पूरे हो गए। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं आप का व्रत भङ्ग करना नहीं चाहती। मैं विषयसुख को सुख नहीं समझती! जब आप का मन मेरे मन में रमण कर रहा है और मैं उसका अनुभव कर रही हूं तब क्या मैं ऐसी अन्धी होगई हूं कि स्थूल और सूक्ष्म सम्भोगरस को नहीं परख सकती? मैं तो केवल आप की कृपा की भिखारिन हूं।"

देवरात। "शुभे! तुम्हारे साहस और धैर्य्य को देख कर

तो मैं बड़े आश्चर्य में पड़ गया। मुझे मालूम हो रहा है कि यह कलयुग नहीं है, सत्युग है। सच तो यह है कि रूप-रङ्ग और स्वभाव से तू उमा पार्वती है, पर मैं विकार-रहित शिव नहीं हूं। शङ्कर ने काम को भस्म कर दिया था। यहाँ तो अनङ्ग मेरे अङ्ग अङ्ग को डाह रहा है। किसी भी उपचार से शान्त नहीं होता। मेरे मन पर मेरा अधिकार अब नहीं रहा।"

इस प्रकार आर्य-दम्पति बातें कर ही रहे थे कि मकान की छत फटी और एक परम सुन्दरी रमणी नीचे उतर पड़ी। दोनों उसे देख कर स्तब्ध हो गए। दिव्या ने कहा—"देव-रात! मैं मूर्तिमती तेरी उपासना हूं। कठिन तपश्चर्य्या से मेरी सृष्टि हुई है और यदि तू दृढतापूर्वक अपने स्वरूप में स्थित रहता तो मैं तुझे निर्वाणसुख देती जो अत्यन्त दुर्लभ है। पर तू मुझे असमय में मारने पर ही उतारू हो गया है। देख! मेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग में पीड़ा हो रही है और उन्हें छिन्न-भिन्न होते कुछ देर भी नहीं है। मैं तुझसे अन्तिम बिदा मांगने आई हूं। क्या कहता है? यदि अब भी तू चाहे तो मेरी रक्षा हो सकती है। मैं तुझे तारक मंत्र का उपदेश करती हूं। उसे धारण कर और उसके बल से काम को फटकार कर एवं भिक्षा लेकर सीधे वीरसिंह पुर को चला जा। वहाँ गोविन्द बड़ी उत्सुकता के साथ तेरी प्रतीक्षा कर रहा है। अब तुझे

यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिए। देख, देख, सचेत होजा।"

इतना कह कर देवी ने राममंत्र का उपदेश किया और वह अदृश्य हो गई। देवरात अपने भाग्य को सराहता हुआ द्वार के पास आया। द्वार की सिकड़ी उतर गई थी। पट खोल कर बाहर निकला और जइयारी को सीधे चला गया। अपने घर पर पहुंच कर उसने भिक्षाकपाल उठाया और माता के पास खड़ा हो गया—"जननि! आज्ञा का पालन हो चुका। अब भिक्षा दे कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर।"

धन्या। "बेटा! एक दिन और ठहर जा। बहू को घर में आने दे। कल मैं तुझे हर्षपूर्व्वक भिक्षा देकर विदा करूंगी।"

देवरात। "नहीं माता! चाहे भिक्षा दो या न दो, मैं अब एक क्षण के लिए भी नहीं ठहर सकता।

माता ने विवश होकर भिक्षा-पात्र भर दिया और वह तुरत वहाँ से प्रस्थान कर गया।

७
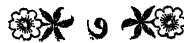
वीरसिंहपुर में गोविन्द एक वैश्य के द्वार पर टिका था। संयोगवशात् वहाँ उस गृहस्थ के गुरु गौड़पादाचार्य्य आ गए। गोविन्द भी उनके दर्शन को गया। उसे देखते ही आचार्य्य ने कहा—"अरे! तुझमें तो नारायण की कला वास करती है। तू अपने स्वरूप को इतना क्यों भूल गया है?"

इस वाक्य को सुनते ही गोविन्द मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। लोग उसे उठाने को दौड़े। पर आचार्य्य ने सब को मना कर दिया। इतने में देवरात भी वहाँ पहुंच गया। अपने मित्र गोविन्द की दशा देख कर वह भी मूर्च्छित हुआ। आधी घड़ी के बाद दोनों की मूर्छा आप से आप टूटी। गोविन्द* तुरत दौड़ कर आचार्य्य के चरणों पर पड़ा और दीक्षा की भिक्षा माँगी। गौड़पाद ने उसी समय दीक्षित कर के तुरत तप करने के लिए उसे रामनद क्षेत्र को भेज दिया।

पुनः देवरात को बुला कर पूछा–"तूने क्या देखा? मुझसे सच सच बता।" उसने कहा—"भगवन्! मैं आप से क्या कहूं। अनेक जन्मों और अनेक लोकों की लीला देख कर मैं स्तब्ध हो गया हूं। पहले तो मैंने एक दिव्य नगर देखा। उसमें एक सुरसुन्दरी पर मैं आसक्त हो गया। वह भी मुझ पर अनुरक्त थी। हम दोनों चैत्ररथवन में घुस गए और वहाँ स्वच्छन्दतापूर्वक विचरने लगे। रसक्रीड़ा करते हुए जब हम दोनों थकित हुए तब उपवन के सुन्दर सुन्दर फूलों को तोड़ तोड़ कर एक दूसरे को मारने लगे। इतने में गन्धर्व्वराज चित्र-रथ वहाँ आ पहुंचे। हम दोनों को देख कर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। और बोले–"गन्धर्व्व-कुल-कलङ्क! तुम दोनों पृथ्वी पर

---

* यही गोविन्द भगवत्पाद शङ्कराचार्य्य के गुरु श्री गोविन्द पादाचार्य्य थे। "कथामुखी"—सम्पादक

पतित हो। और सनातन सम्बन्ध दृढ़ होने पर भी तुम आ-जन्म दाम्पत्य सुख से वर्जित रहो।" इस घोर शाप को सुन कर हम दोनों थर्रा गए। चरणों पर पड़े और प्रार्थनाएँ कीं। तब गन्धर्व्वराज ने प्रसन्न हो कर कहा—"संयत और सुभद्रा! तुम दोनों की वन्दना से मैं सन्तुष्ट हुआ हूं। शाप का फल तो तुम्हें अवश्य भोगना पड़ेगा। पर मेरे आशीर्वाद से तुम दोनों परम सुकृती होगे और श्रीभोज द्वीप में जब बहुत दिनों के बिछोह के बाद तुम्हारा सम्मिलन होगा तब उसी समय तुम्हारा उद्धार हो जायगा। अनन्तर हम दोनों प्रणाम कर के ज्यों ही वन के बाहर हुए कि मेरी मूर्च्छा टूट गई।" इस सम्वाद को सुनकर आचार्य्य बहुत प्रसन्न हुए और देवरात को उपदेश देकर उसके गुरु के पास भेज दिया।

उपसंहार

देवरात आश्रम में भिक्षुधर्म्म की दीक्षा लेकर कुछ दिन ठहरा। फिर उसने धर्म प्रचारार्थ विदेश यात्रा की। वह लङ्का द्वीप में बहुत दिनों तक रहा और सत्तर चैत्यों की प्रतिष्ठा करके वह स्वदेश को लौट रहा था कि व्यापारी जहाज़ जिस पर वह सवार था सुमात्रा द्वीप में ही रुक गया। अतः दूसरे वोहित की प्रतीक्षा में उसे वहाँ ठहरना पड़ा। वहाँ वह स्वदेश-बन्धुओं से मिला और प्रजा तथा राजा दोनों ने उस का स्वागत किया। एक दिन उसके आगमन का समाचार पा कर
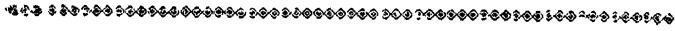
श्रीभोज प्रवासी भारतवासी झुण्ड के झुण्ड उसके पास आए और प्रार्थना करके उसे अपने नगर को लिवा लेगए। वहाँ वह वनिताश्रम की संघमाता की प्रशंसा सुन कर दर्शनार्थ गया। माता ने स्वागतपूर्वक आश्रम का निरीक्षण कराया। भिक्षु ने माता के सुप्रबन्ध आदि की भूरि भूरि प्रशंसा की। माता महात्मा का रूप-रङ्ग, बोल-चाल आदि को परख कर बहुत चकित हुई। अन्त में प्रणाम करती हुई उसने कहा—"प्राणनाथ! यह आप की वही अभागिनी अनिला है। आप के वियोग को न सह कर विद्यावसुजी के साथ यहां आई और परोपकार एवं धर्मप्रचार में समय बिता रही है।"

उस की बातें सुनकर देवरात भी चकित हुआ और उस की ओर घूर कर देखने लगा। उसी के साथ स्वप्न की बातें उसे स्मरण हो आईं और वह मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा और अपनी गति को प्राप्त हुआ। संघमाता अनिला चिता रच कर पति को अङ्क में लेकर सती हो गई।

—"समन्त।"

वनभागिनी

जहाँ थे कभी भवन ऊँचे बने,
गज-वाजि-रथ-कोष-दल थे घने।
वहाँ आज देखो तो वन-डीह है,
हुआ उन सभी का उसी में विलय॥
हर एक ईंटमें उनका यश है छिपा,
हर एक रेणु में उनका शोणित खपा।
वही क्षेत्र है तीर्थ अपने लिए,
जहाँ पूज्य पूर्वज हैं बलि हो गए॥

पूलपुर से कोई दो कोसों पर बल्लभी डीह नामक एक वन है। अधिकांश वहां बहेड़ों के ही पेड़ हैं। उस वन में वनेश्वरी देवी का एक पुराना मन्दिर है। वनभागिनी उसी की पुजारिन की धर्म्मपुत्री है। वह अपूर्व सुन्दरी और गम्भीर-स्वभावा है। देवी की पूजा से जो समय बचता है वह उसका डीह के पास

सरोवर के एकान्त तटपर ही कटता है। वह वहाँ अकेली बैठी गढ़के टूटे फूटे दृश्यों को देखकर अपने मन में अनेक प्रकार के भाव भरा करती है। रात्रि में भी वह यहाँ आया करती है। यौवन का उसके अङ्ग अङ्ग में पूर्ण विकास है; वैसे ही उसके भाव भी दृढ़ और उन्नत हैं। आज रात्रिमें अपने नियम के अनुसार वह सरोवर के किनारे आकर बैठीं है। खिली हुई चाँदनी में उन दृश्यों को वह एकाग्र वृत्ति से देख रही है। खड़हरों पर लहराती हुई चाँदनी ने उसके भावों को और भी चमका दिया। उनमें वह पग कर गाने लगी—

अहो यह कीरति वीरन की।

छिटिक रही है अमल चाँदनी मन्द ज्योति करि हीरन की।
रज रज में राजति है सुन्दर महिमा उन ध्रुव धीरन की॥
प्राणदान से पुण्य भई है धरा धवल सर-तीरन की।
अरचति हौं पदपद्म जननि! तुव देइ अरघ दृगनीरन की॥

इसी प्रकार वह एकान्त रात्रि में यहां भावों के उभार से कभी कभी गाया करती है। उसका मनोमोहक स्वर उसके हृदय की वेदनाओं को लिए हुए वृक्षों से टकराता हुआ आकाश में लीन हो जाया करता है। वहां यदि कोई उसका साथ देता है तो वही खँड़हर! उसकी टूटी-फूटी चौड़ी दीवारें उसके स्वर में स्वर मिलाती हैं, उसकी आहों को वे भी दुह-राती हैं। आज उसका स्वर एक ऐसी जगह पहुँचा जिसे

ईश्वर ने उसी के ग्रहण के लिए बनाया है। वह खँड़हरों और वृक्षों को पार करता दूर तक चला गया और वह राजकुमार पीयूषवर्मा के कानों में पड़ा। कानों की राह से वह हृदय में प्रवेश कर गया और प्राणों को लहराने लगा।

राजकुमार पीयूषवर्मा मौर देश के राजकुमार हैं। शिकार खेलने के लिए यहां आए हैं। वे अपने डेरे में लेटे-लेटे जग रहे थे। इस गीत के मधुर आलाप को सुनकर बाहर निकल आए और इधर-उधर टहलने लगे। यह आहट लेने लगे कि कौन गाता है, कहाँ से यह स्वर आता है। इस आलाप के उठने का स्थान उन्हें दूर मालूम हुआ। पर इसकी मनोमोहकता धीरे धीरे उन्हें खींचने लगी। वे, जिधर से वह सुनाई देता था, उधर, थोड़ा थोड़ा बढ़ते जाते थे। इस तरह वे उसके निकट पहुँच गए। स्वर अब स्पष्ट सुनाई देने लगा। कुछ आगे बढ़कर वे रुक गए। और चुपचाप उसे सुनने और उसके निकलने के सजीव यन्त्रको एकटक देखने लगे। चाँदनी दूती की तरह उन की सहायता करती थी। वनभागिनी की अनुपम छवि देखकर उनकी आँखें अपनी गति भूल गईं। सुन्दरता और सङ्गीत, एक एक अकेले ही मनको मोहित करने में पूर्ण समर्थ हैं। फिर जहाँ दोनों ही का मेल हो उसका क्या कहना! उसपर एकान्त चाँदनी रातमें वनका दृश्य! उनके हृदय में रमणीय भावों के भरने में उन्होंने कोई कसर नहीं की। अनुराग का

सञ्चार हो उठा। वे उस रमणी के पास गए। वह एकाएक इन्हें इस सूनसान में देखकर चौंक पड़ी। फिर इनके सुन्दर तेजस्वी रूपको निहार कर उसने इन्हें कोई देवता समझा। वह उठ पड़ी और बोली–"हे देव! क्या आप अपना पुनीत नाम बताकर कृतार्थ करेंगे?"

राजकुमार पीयूषवर्मा बोले—"हे शुभे! अनायास विघ्न पहुंचाने के लिए आप मुझे क्षमा करें। मैं मौरदेश का राज-कुमार हूं। यहाँ शिकार खेलने के लिए आया हूं। यहां से थोड़ी दूरपर मेरा पड़ाव है। आपका मधुर आलाप ही मुझे खींच लाया है। क्या आप अपना परिचय देकर मुझे अनुगृहीत करेंगी?"

वनभागिनी ने कहा—"मेरा......मेरा परिचय! राज-कुमार! मेरा परिचय पूछ कर आप क्या कीजिएगा?"

पीयूषवर्म्मा—"मैं उससे कृतार्थ हूंगा। जो यहाँ तक मुझे खींच लाया उसका वृत्तान्त जाने बिना भला कैसे सन्तोष होगा! आपके स्वर से, आपके रङ्ग-ढङ्ग से यह मालूम होता है कि आपके हृदय में कोई गम्भीर दुःख है। कृपया मुझे अपना जान उसे प्रकट करें। मुझे उसके जानने की अभि-लाषा है।"

वनभागिनी के हृदय की छिपी वेदना उभर आई। उसके मुखकी छवि गम्भीर होगई। उसने कहा–"हे भद्र! आप उसे

क्यों पूछते हैं ? संक्षेप में यही जान लीजिये कि मैं एक देवल-कन्या हूं। यहां ही वनेश्वरी देवी का मन्दिर है। उसकी पुजारिन मेरी धर्म-माता है।"

पीयूषवर्म्मा—"पर इतने से सन्तोष नहीं हुआ।"

वनभागिनी का मन न जाने क्यों बार बार उस राजकुमार के आगे अपनी सम्पूर्ण दुःख-कथा का बँधा हुआ बेठन खोलकर रख देने की प्रेरणा करने लगा। उसे ऐसा बोध हुआ मानों हमारा कौन अपना सगा आगया है। दुखिया का दुःख सुननेवाला कोई अच्छा पात्र जब मिल जाता है तब ऐसा ही होता है। आखिर उसे कहना ही पड़ा। उसने आह भरे स्वर में कहा—"राजकुमार! यह पहला ही अवसर है कि मुझसे किसी ने मेरा दुःख पूछा है। आज तक मैं उसे अपने हृदय में जुगाती रही और समझती थी कि प्राणों के साथ ही वह जायगा। पर आज हृदय ने मानों अपना दूसरा रूप धारण कर उसे ग्रहण करना चाहा है। अच्छा, यदि आपकी इच्छा है तो मैं कहती हूं, सुनिए—यह डीह जो आप देखते हैं वल्लभी नगरी की है। सूर्यवंशी नरेशों की यह राजधानी थी। बीस लाख मनुष्यों से भरी हुई अत्यन्त रमणीय नगरी थी। उसके सिंहासन पर महाराज शिलादित्य बड़े यशस्वी वीर और चक्रवर्ती नृपति हुए हैं। पारस्य, तक्षकस्थान और यवनान आदि देश भी उनके अधीन थे। उनकी उदारता और प्रजा-

वत्सलता की बड़ी ख्याति थी। सिन्धुपारवर्ती पारद जाति का राजा, जिसने शाकद्वीप से आकर महाराज के अधीन प्रवरपुर में अपना राज्य स्थापित किया था, उनसे द्वेष रखने लगा। बाहर से तो मित्रता का भाव रखता था पर हृदय में उनके अपमान का अवसर ढूंढ रहा था। वह राजधानी पर आक्रमण करना चाहता था। परन्तु ऐसा करना और उसमें विजय लाभ करना अत्यन्त कठिन था। महाराज शिलादित्य सूर्यनारायण के बड़े भक्त थे। उनपर प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उन्हें एक शिला दी थी जिसे दिखलाने या किसी तरह स्पर्श करा देने से शत्रु का नाश हो जाता था। स्तन्न यह बात जानता था। अतः उसने अपने शंकु नामक विश्वासपात्र चर को गुप्त रूप से उनके दरबार में नौकरी करने को भेज दिया। वह यहां आकर नौकर होगया। तब उसने महाराज के प्रतीहारी से मित्रता उत्पन्न की और उससे वह शिला दे देने को कहा। उसने दिया तो नहीं लेकिन उसे सूर्य्यकुण्ड में फेंक दिया। सूर्य्यकुण्ड दिव्य प्रभाव से पूर्ण था। जब युद्ध के लिए महाराज प्रस्थान करने को होते तब उस कुण्डपर जाकर आह्वान करते थे। उसमें से सप्त शिरों का एक दिव्य अश्व प्रकट होता था। उस घोड़े को रथमें जोतकर वे लड़ाई में जाते थे। उस रथ पर सवार होने से शत्रु के सारे अस्त्र-शस्त्र विफल होते थे। शंकु ने उस कुण्ड में गोरक्त छोड़कर उसे भ्रष्ट कर

दिया। इससे उसका दिव्य प्रभाव जाता रहा। वह म्लेच्छ के पास, अपना कार्य करके चला गया और सब समाचार कह सुनाया। उसने तुरन्त वल्लभी पर आक्रमण कर दिया। महाराज शिलादित्य को न अब वह शिला मिली और न प्रार्थना करने पर कुण्ड में से वह अश्व ही प्रकट हुआ। अस्तु, युद्ध आरम्भ हो गया। कई दिनों तक वह घोर रूप से जारी रहा। अन्त में महाराज शिलादित्य शत्रुदल से घिर गए और कितने ही मुंडों को धड़से अलग करके वीर गति को प्राप्त हुए। रहे-सहे वीर भी शत्रुदल के छक्के छुड़ा कर काम आए। शत्रु का विजय हुआ। उसने गढ़ को ढा दिया। सम्पूर्ण राजधानी के सुन्दर सुन्दर भवनों और अट्टालिकाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसने यहां से थोड़ी दूरपर म्लेच्छपुर नगर बसाकर उसे अपने पुत्र के अधीन कर दिया।

उस युद्ध में समस्त राज-परिवार का नाश हो गया। महाराज के भ्राता श्रीचारुकवर्म्मा की विधवा विश्वगर्भा देवी इस अभागिनी वन-भागिनी की माता थीं। उस समय मैं केवल पांच वर्षों की थी। मैं ही एकमात्र उनकी सन्तान थी। सती होने के समय मुझे शीलोत्तमा नाम ग्रामदेवी वनेश्वरी की पुजारिन को उन्होंने दे दिया। उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया है। वे ही मेरी धर्म्ममाता हैं। अत्यन्त वृद्धा हो गई हैं। वनेश्वरी देवी और अपनी उन माता की सेवा से जो समय

बचता है वह यहीं, जहां, जिस भूमि, जिस मातृभूमि का पूर्वजों ने अपने उष्ण रक्त से पादप्रक्षालन किया है, जिस पुण्य रणक्षेत्र में कीर्त्ति-कल्लोलिनी के तीर पर उन्होंने अपने प्राणों का महादान किया है, उसी की वन्दना में कटता है। बस यही मेरा वृत्तान्त है। सो आपसे कह दिया। न जाने मैंने यह अच्छा किया या बुरा। क्योंकि मैं अपना अज्ञात जीवन बिताना चाहती थी। पर न जाने ईश्वर ने अचानक आज आपको कहां से भेज दिया! अब तो अपना रहस्य मैं आपसे कह चुकी। इतनी प्रार्थना है कि आप किसी पर इसे प्रकट न करेंगे। हृदय और ईश्वर एवं मेरी धर्म्म-माता के बाद आप हीं इसे आज जान सके हैं। यह कहते कहते उसके कमलदल से नेत्रों में मोतियों की तरह आँसुओं के बूंद भर गए। राजकुमार पीयूषवर्मा ने उन्हें देखा। इस कथा को सुन कर और उसकी दशा देखकर उनके सरस और उदार हृदय में बड़ी गहरी चोट लगी। उनका हृदय भी उसके साथ रोने लगा, आंखें डबडबा आईं। उनका मन कहने लगा कि प्राण निकाल कर इसे दे दें या क्या कर डालें कि इस रमणी का सन्तोष हो। वे बोले—"देवि! क्या इस अधम शरीर से आपका कुछ उपकार हो सकता है? आपकी दुःख-कहानी सुनकर जी चाहता है कि आपका मैं कैसे सन्तोष करूं! कैसे

आपका दुःख दूर हो सकता है ? क्या हो कि आपकी आत्मा सन्तुष्ट और सुखी हो ?"

वनभागिनी—"राजकुमार ! आप सहृदय हैं, दयालु हैं, इससे मेरा दुःख सुनकर आपको तरस आ गया। इसके लिए मैं आपकी कृतज्ञ हूं। परन्तु राजकुमार ! मेरे भाग्य को क्या कीजियेगा ! उसमें विधाता ने सुख लिखा ही नहीं है। मेरा दुःख—हा ! मेरा दुःख दूर करना बड़ा कठिन है। जिसका चिरकाल तक साथ रहता है उससे एक प्रकार की घनिष्ठता हो जाती है; जहां मनुष्य रह जाता है उससे ममता हो जाती है; विष का सेवन करते रहने से वह भी आहार बन जाता है। इसी तरह बचपन से दुःख झेलते झेलते मुझे उससे प्रेम होगया है। वह मेरा सखा है। दुःख के साथ एकान्त में रह कर मुझे आनन्द आता है। सो, उसे कोई छुड़ा भी नहीं सकता और मैं छोड़ना भी नहीं चाहती। जो उसे निकाल देगा वही उसका स्थान ले सकेगा। अच्छा, अब मुझे आज्ञा दीजिए। बहुत रात गई। भोर ही उठना है, सेवा-पूजा में लगना है। जो अनुचित हुआ हो उसके लिए क्षमा कीजिएगा।" यह कह कर वह अपनी करुणा को घोंटकर, अपने हृदय को मसलकर चली गई। राजकुमार स्तब्ध हो कुछ देर तक वहां खड़े खड़े उसकी दशा सोचते थे। फिर वे भी अपने पड़ाव पर चले गए।

२
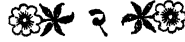
राजकुमार पीयूषवर्म्माको उस रात में नींद नहीं आई। पड़े पड़े वनभागिनी ही की चिन्ता करते थे। उस रमणी की अपूर्व छवि उनकी आंखों में लसी थी, वेदनाभरे उसके वाक्य उनके कानों में गूँजते थे-उनके हृदय को मथते थे। वे सोचते थे कि क्या करें कि उसे शान्ति मिले, उसकी आत्मा प्रसन्न हो।

वनभागिनी का मन भी राजकुमार पर अनुरक्त हो गया। उनकी दया, सहानुभूति और सौम्य रूप ने उसके हृदय पर अपना पूरा प्रभाव डाला। उसने कहा-हे मन! तू किस ओर जा रहा है! तेरा यह पथ नहीं। वह भाग्यमानों का पथ है। तू उसका अधिकारी नहीं। तेरे भाग्य में सुख नहीं। तेरा संसार दूसरा है। तेरा भाग्य दूसरा है। और तू ने आज अपना गूढ़ भाव प्रकट करके अच्छा नहीं किया। ऐसी तुझसे आशा नहीं थी। अब भी तू सँभल जा। मेरा कहा मान। हे अनुराग! तू राजा है। इस भिक्षुणी के हृदय-कुटीर में कहां से आया! यहां तुझे सिवा दुःख के सुख नहीं मिल सकता। इस हृदय के शून्य वन में दुःख के कण्टक भरे हुए हैं। तेरे कोमल अङ्गों में वे चुभेंगे और तुझे वहां बहुत ही कष्ट सहने पड़ेंगे। तू मुझे दीन जानकर अब से भी लौट जा। किसी भाग्यशीला युवती के सरस हृदय में जा। वहां आनन्द और आशा के फूलों के उपवन में तुझे सुख मिलेगा। वहां तुझे

तेरे योग्य आहार मिलेगा। भगवती वनेश्वरि! आज अचानक यह क्या संघटन हो गया है? मेरी यह क्या दशा हो रही है? माता! तू मेरी रक्षा कर। राजकुमार! तुम कहां से पहुंच गए. कहां से आकर तुमने इस दीन तपस्विनी के हृदय में और भी दुःख भर दिया। तुमने एक नया दुःख दे दिया। मैं देखती हूं कि क्षण क्षण में यह अपना विकास करता जा रहा है और धीरे धीरे मेरी गूढ़ वेदना को अपने में लीन कर रहा है। वह मुझे तुम्हारी ओर खींच रहा है और मेरा कुछ वश नहीं चलता! न जाने ब्रह्मा ने क्या लिखा है!

यह सब उसने कहा, पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। उसका मन अब उसके वश में नहीं रहा। जब मन में कोई संस्कार जागृत हो जाता है, जब उसमें कोई भाव उदय हो जाता है तब उसका मिटना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अत्यन्त कठिन क्या, यदि वह अनुराग का भाव हुआ तो असम्भव ही हो जाता है।

राजकुमार दूसरे दिन, दिन में वनेश्वरी देवी के मन्दिर पर आए। वनभागिनी के नेत्रों ने, मन ने और मधुर वाणी ने भी उनका स्वागत किया। कुमार ने हृदयेश्वरी और वनेश्वरीदेवी के दर्शन किए। वृद्धा पुजारिन के चरण छुए। उन्होंने प्रणाम के साथ दक्षिणा और पुजारिन ने आशीर्वाद के साथ कुछ कन्द-फल का प्रसाद उन्हें दिया। राजकुमार का परिचय पाकर वृद्धा

को सन्तोष हुआ। उसने अपने मन में कहा—'अहो! यह वर वनभागिनी के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त है—कुल, शील, रूप, तीनों ही श्रेष्ठ हैं। पर, मेरी वनभागिनी को अनाथ देवल-कन्या जान काहे को यह स्वीकार करेगा। बुड्ढी के मन में अपनी धर्मकन्या का कुल परिचय दे देने का भाव भी आगया लेकिन कुछ समझ कर वह ठहर गई। जब तक राजकुमार वहाँ रहे तब तक वनभागिनी अपने मन को पकड़े नेत्रों को पृथ्वी पर गड़ाए रही। जब वह अपने इस कार्य में थक गई तब वह व्यर्थ इधर-उधर करने लगी—मन्दिर की सफ़ाई करने लगी। राजकुमार भी चले गए।

राजकुमार शिकार खेलने आए थे। पर खुद शिकार हो गए। वे पड़ावपर ठहर गए। अब प्रायः वनेश्वरी देवी के दर्शन को आते हैं। श्रद्धा से पूजन करते हैं। भगवती उन्हें इसका फल दें।

एक दिन वे अपने पड़ाव से मन्दिर को जाते थे। बीच में वनभागिनी से भेंट हो गई। वह अपने बगीचे में भगवती की पूजा के लिए फूल तोड़ रही थी। राजकुमार वहाँ जाकर खड़े हो गये। उसने इन्हें देखा और दृष्टि को पृथ्वी की ओर फेरना चाहती थी। पर आखों ने उसका शासन नहीं माना। उसने इस समय उन्हें आँखोंभर देखा और एक ही समय में सुख और दुःख, दोनों ही के अश्रु उमग कर नेत्रों में छा गए।

उसने मन ही मन कहा—राजकुमार ! तुमने बड़ा अनर्थ उपस्थित कर दिया। कहो, अब मेरे भाग्य का क्या निर्णय करते हो ?'

राजकुमार ने कहा—"आपने मेरी जिज्ञासा पूर्ण नहीं की। आप मेरा हृदय नहीं देखतीं। मैं यह जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूं कि आप कैसे सुखी हो सकती हैं—आपका विशेष दुःख क्या है और वह कैसे दूर हो सकता है ?"

वनभागिनी। "उसका दूर होना कठिन है।"

पीयूषवर्म्मा। "मैं उसके दूर करने की प्रतिज्ञा करता हूं। उसके उद्योग में मैं प्राण तक न्योछावर करने को तैयार हूं।"

वनभागिनी। "अच्छा, यदि ऐसा है तो मैं भी कहती हूं। आप उसके करने के योग्य हैं। मैं चाहती हूं कि जननी जन्म-भूमिका उद्धार करूं और प्लक्ष के सिर को, अपने पितरों की ओर से, अपने हाथों से वनेश्वरी देवी के अर्पण करूं। इससे मेरे पितरों की आत्माओं का सन्तोष होगा और मेरा दुःख दूर हो जायगा। जो इस कार्य्य में मेरी सहायता करेगा उसी के पवित्र चरणों पर मैं अपना जीवन समर्पण करूंगी। मैंने यह प्रतिज्ञा की है।"

पीयूषवर्म्मा। "तो मैं आपकी प्रतिज्ञा पूरी करने की प्रतिज्ञा करता हूं।" हृदय तो अर्पण ही कर चुका हूं, अब प्लक्ष का सिरभी ईश्वरकी कृपा होगी तो शीघ्र आपका कन्दुक बनेगा।"

वनभागिनी। "भगवती आप की सहायता करें।"

राजकुमार ने कहा—"अच्छा, तो अब प्लक्ष का सिर लेकर ही मैं वनेश्वरी देवी के दर्शन करूंगा और अब आप से अधिकारपूर्वक ही मिलूंगा।" यह कह कर उसी जगह से वे उलटे पैर लौट गए और वनभागिनी प्रेमपूर्वक उन्हें, जब तक वे दिखलाई देते रहे, देखती रही। उसने मन्दिर में आकर देवी को पुष्प अर्पण किए और कहा—माता! यह संघटन तुम्हारी ही इच्छा से हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं एक नए रास्ते पर पैर रख चुकी, पर चलकर कहाँ पहुंचूगी, यह नहीं मालूम। जननि! प्लक्षमुण्ड को तुम्हारी माला में गूथने की मेरी इच्छा है। इसी इच्छा पर मेरे जीवन के समस्त दुःख-सुख ठहरे हुए हैं। वह वीर राजकुमार मेरे लिए अपने जीवन को तृणवत् समझ कर उसकी पूर्ति की कठिन प्रतिज्ञा कर चुका है—वह संग्राम की अग्नि में पैर रखने जा रहा है। मेरा सङ्कल्प और उसका जीवन, दोनों ही इस समय मुझे सम तुल रहे हैं। अब यह सब भार तुम्हारे चरणों पर है। तुम्ही विजया और श्रेया हो। सिवा तुम्हारे मेरे और कोई नहीं है। इस हतभागिनी की सौभाग्यलक्ष्मी तुम्हीं हो। तुम्हारी अमृतमयी दृष्टि में समस्त कल्याण निवास करते हैं। राजकमार और मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा करना।"

३
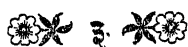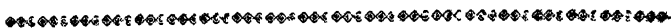
राजकुमार पीयूषवर्म्मा ने अपनी राजधानी में जाकर दरबार किया। मन्त्री, सेनापति आदि सब एकत्र हुए। सबकी सम्मति जानने के लिए उन्होंने कहा—"आज मैं एक विशेष प्रस्ताव आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करता हूं। आशा है आप उसका अनुमोदन करेंगे। प्रवरपुर का राजा मल्ल एक बड़ा ही अन्यायी और उद्धत नृपति है। वल्लभी के चक्रवर्ती नृपति शिलादित्य को आप लोग अच्छी तरह जानते हैं। वे एक सत्यनिष्ठ, उदार, बुद्धिमान और धीर-वीर पुरुष थे। उसने उनके साथ बड़ा ही क्रूर व्यवहार किया। वह उनसे कपट-मित्रता रखता था। उसने वल्लभी पर चढ़ाई कर दी। और छलबल से उस राज्य को समूल नष्ट कर दिया। महाराज शिलादित्य की एक भतीजी उस कुल में बच गई है। वह अपने को छिपाए तापसिक जीवन निर्वाह कर रही है उसके हृदय में अपने पूर्वजों और देश के प्रति बड़ी भक्ति है और उनके छिन्न-भिन्न होने की उतनी ही चोट है। मुझे उस अनाथा का समाचार ज्ञात हुआ है। वह मेरे शरणागत हो चुकी है और मैं उसके पूर्वजों के राज्य के उद्धार करने का प्रण कर चुका हूं। एक अबला, उसमें भी अनाथा और फिर शरणागता। उसपर मेरी प्रतिज्ञा—अतः अब उसका उद्धार करना ही कर्त्तव्य है। आप लोग वीर, विद्वान् और धर्मात्मा हैं। धर्म

की मर्य्यादा जानते हैं। ऐसे अवसर पर अपनी प्रतिज्ञा और शरणागत की रक्षा के लिए आर्यगण अपने प्राणों को तुच्छ समझते हैं। मैं उसी पवित्र पथपर खड़ा हो आज आपकी सम्मति की प्रतीक्षा कर रहा हूं।"

सेनापति क्षेमवर्म्मा ने अपनी तलवार खींचकर कहा—"युवराज, आपके पथ के कण्टकों को साफ़ करने के लिए यह अस्त्र तैयार है।"

युवराज बोले—"हां, आप-जैसे वीर से ऐसी ही आशा है।"

प्रधान मन्त्री सोमेश्वरदत्त ने कहा—"युवराज, आप वीर, नीतिमान और कुल-धर्म्म के ज्ञाता हैं। अपनी प्रतिज्ञा और शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का परम धर्म्म है। जो प्रतिज्ञा आपने की है वह आपकी मर्य्यादा के अनुकूल है, उससे आपकी कीर्त्ति और शोभा है। मैं इस युद्ध का अवश्य अनुमोदन करता हूं। पर मेरी केवल इतनी प्रार्थना है कि इतने बड़े कार्य के लिए सहसा तैयार हो जाना ठीक नहीं। पारदराज की शक्ति बढ़ी हुई है। हमें एक मुक़ाबले के शत्रु से भिड़ना है। अतः चढ़ाई के पूर्व पूरी तैयारी कर लेनी और शत्रु की मार्म्मिक आहट गुप्तचरों द्वारा ले लेनी चाहिए।

धीरमति मन्त्री के परामर्श का सभी ने समर्थन किया और राजकुमार ने भी उसे पसन्द किया। उन्होंने कहा—

"हाँ, मेरा भी ऐसा ही विचार है। पहले आप लोगों की सम्मति मुझे लेनी थी, सो हो गया। अब महाराजसे आज्ञा लेकर कार्य्य आरम्भ कर देना है।"

अनन्तर सभा विसर्जित हुई और सब लोग तलवार और अञ्जलि से जुहार करके अपने अपने घर गए।

राजकुमार महाराज प्रभाकर के पास चले गए।

प्लक्षपुर पर चढ़ाई हो गई। मौर-सेना ने गढ़ को घेर लिया। इसका समाचार पाकर मुक्तकेश मल्ल भी अपनी राजधानी प्रवरपुर से सेना लेकर युद्धक्षेत्र में आ जुटा है। प्राणों को तुच्छ समझ कर दोनों दल के योद्धागण युद्ध के लिए व्यग्र हो रहे हैं। उत्साह से सब के हृदय भर रहे हैं। दोनों सेनाएं आमने-सामने खड़ी हैं। वे अपने अपने सेना-नायक की आज्ञा की बाट जोह रही हैं। रण-वाद्य उनके उत्साह को दूना और चौगुना कर रहे हैं। वैसे ही सूर्य्यकिरणें तलवारों की तड़प को बढ़ा रही हैं। पिशाचियाँ और गिद्ध आदि अपना भोज समझकर आशा से भर रहे हैं।

राजकुमार पीयूषवर्म्मा ने कहा—"वीर योद्धाओ! वीर क्षत्रिय प्राणों का लोभ नहीं करते। उनका जन्म अन्याय और अत्याचार से प्रजा की रक्षा करने के लिए ही होता है। रण-क्षेत्र ही उनका विहार-स्थल है, वही उनका तीर्थ है, धर्म्म युद्ध उनका तप है। क्षत्रियों का यही वास्तविक साधन और याग

है। उसके प्रभाव से वे अमरगति को प्राप्त होते हैं तपस्वी लोग कठोर संयम-नियम करके जिस पद को प्राप्त करते हैं वह वीरों को रणक्षेत्र में सहज ही मिल जाता है। आज हम लोग उसी साधन और उसी गति के लिए अपने देह-गेह की ममता छोड़ कर, पूर्ण विरक्त होकर आए हैं। न्याय की रक्षा और अमर कीर्ति प्राप्त करना ही एक मात्र हमारा उद्देश्य है। हाड़-मांस का अपवित्र शरीर यशही से पवित्र होता है। यह शरीर एक न एक दिन नष्ट हो जाता है, पर यशरूपी शरीर अमर है। उसमें जरा-मरण का भय नहीं रहता। वीर लोग अपने उसी शरीर में बसते हैं। वे उसी को प्यार करते हैं। वह उत्सर्ग से बनता है। आज उसके निर्माण के लिये हम लोग इस पवित्र क्षेत्र में उपस्थित हुए हैं। इसलिये उसी पर हमारा ध्यान रहना चाहिये, उसी का अहङ्कार और ममकार होना चाहिये। मौर-राज्य की कीर्त्ति आज आप लोह-लेखनी से लिख दीजिए, उसकी ध्वजा को अङ्गद के पैर की तरह अटल कर दीजिए। देखिये वह आप के सामने फहरा रही है— विजयलक्ष्मी अपने हाथ से शत्रु की ओर बढ़ने के लिये आप को इशारा कर रही है। आइए, चलिए और शत्रुओं के छक्के छुड़ा दीजिए।"

युवराज का उत्साह-बढ़ाने वाला व्याख्यान सुन कर वीरों को जोश आगया। उनका रुधिर खौलने लगा। युद्ध के लिए

उनका हृदय आतुर होने लगा। वे बोले—"युवराज, जिस सेना के आप वीर नायक हैं वह अमर कीर्त्ति को अवश्य प्राप्त करेगी। विजयलक्ष्मी को हम प्राण-पूजा से प्रसन्न कर आज अमोघ वर का अर्जन करेंगे। आपकी दीर्घ भुजाओं की छाया-तले योद्धाओं का सदा मङ्गल ही होगा।"

युद्ध छिड़ गया। प्रत्येक दल अपने मुक़ाबलेवालों से भिड़ गया; हाथी, हाथी से, घोड़ा, घोड़े से और पैदल पैदल से लड़ने लगे। द्वन्द्व युद्ध मच गया। अस्त्र-शस्त्रों के झङ्कार सुनाई देने लगे। योद्धागण तलवार को ऐसी फुरती से चलाते थे कि मालूम होता था मानो आकाश में बिजली की सहस्रों धारायें बह रही हैं। कब उनके हाथ उठते हैं और कब गिरते हैं, यह कुछ नहीं दिखलाई देता था, केवल तलवारों की तड़प दृष्टिगोचर होती थीं। धड़ाधड़ धड़ से सिर जुदा होने लगे। लहू की धाराएं बहने लगीं। योद्धाओं की दृष्टि एकाग्र है, मन शान्त है, वे अपना-पराया, देह-गेह सभी कुछ भूल गए हैं। शत्रु की सेना भी बड़ी बहादुरी और चातुरी से लड़ रही है। पर पीयूषवर्म्मा के सैन्य—शैल से नदी की तरह टकरा कर पीछे हट जाती है। बार बार वह नए नए जोश और रोष से मौर-सेना पर टूटती है पर उसके सङ्गठित मोरचे को नहीं तोड़ पाती। मोरचा इस ढङ्ग से बँधा हुआ है कि जहाँ एक योद्धा खेत आता है तहां उसकी जगह पर, उसके

पीछेवाला आ डटता है। युद्ध होते होते शाम हो गई। इधर पृथ्वी पर लुहूलुहान हुआ है, उधर आकाश रक्त से रङ्ग गया है। अंधकार छा रहा है। सेना की सघनता में वह और भी गहरा हो गया है। लेकिन वीर रणमद से ऐसे भर गए हैं कि वे विश्राम ही नहीं लेते—मानों वे आज ही जय-पराजय करके छोड़ेंगे। इस समय तलवारों के किञ्चित् प्रकाश में वे लड़ रहे हैं। घड़ी रात गए तक युद्ध होता ही रहा। उसके समाप्त होते होते राजकुमार पीयूषवर्म्मा घायल हो गये। मल्ल से उन से भिड़ान था। उसकी तलवार युवराज के बाहु में औचट चोट कर गई। पर उस वीर ने जीवट के साथ उस आघात को सह कर शत्रु को हटा दिया।

५
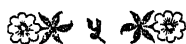
शिविरपर आकर युवराज मूर्च्छित हो गए। लड़ाई के मैदान से वनेश्वरी देवी का स्थान थोड़ी ही दूर पर था-कुमार के दूत वहां बराबर आते-जाते थे। वे समाचार पहुंचाने के लिए नियुक्त थे। वनभागिनी युद्ध का समाचार जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक थी। और देर हो जाने से वह विकल भी हो रही थी। यहां तक कि उसने राजकुमार के कैम्प पर जाने का इरादा कर लिया था। इसी समय युवराज का दूत आ पहुँचा। उसने प्रणाम करके कहा—"युद्ध में शत्रु का बहुत कछ संहार हुआ। परन्तु अन्त में युवराज घायल हो गए।

वे शिविर में आकर मूर्च्छित हो गए हैं। पूरी सजगता से उपचार हो रहा है। आशा है शीघ्र वे चङ्गे हो जायँगे। मैं जानता था कि आप समाचार जोहती होंगी, इसलिए, चला आया। अब कृपाकर आज्ञा दीजिए, मैं लौट जाउँ।"

वनभागिनी राजकुमार के मूर्छित होने का समाचार सुन कर विह्वल और अधीर हो गई। उसने कहा--"हा भगवन् तुमने मुझे कैसी अभागिनी बनाया! दुर्दैव, तूने अब भी नहीं पीछा छोड़ा! राजकुमार! इसी हतभागिनी के कारण तुम्हें यह कष्ट झेलना पड़ा है। हा! मैं ईश्वर के सामने क्या मुँह दिखलाऊँगी? मैंने तुम्हारे उदार, कृपालु और कल्याणमय जीवन को सङ्कट में डाल दिया।" फिर वह वनेश्वरी देवी के मन्दिर में गई और बड़ी करुणा से प्रार्थना करने लगी—"माता! अब तुम्हीं एकमात्र सहायक हो। तुम मेरी माता हो। तुम्हें छोड़ कर और मेरे कौन है? किससे अपना दुःख कहूं? माता से अधिक सन्तान की किसे ममता हो सकती है? मेरा लाड़ रख दो। मेरा मुख उज्ज्वल करो—अभागिनो वनभागिनी को प्राणघातिनी न बनाओ। राजकुमार की रक्षा करो। मेरी सम्पूर्ण आयु उसे दे दो। क्या इस हतभागिनी की एक प्रार्थना भी नहीं स्वीकार करोगी? हा! जिससे टुक भाव का भी स्पर्श हो गया वह भी मेरे भाग्य का भागी बन गया। इससे अधिक अब क्या दौर्भाग्य होगा!" इसी समय एक

दूसरा सवार पहुँचा और उसने कहा—"युवराज सचेत और स्वस्थ हो गए और वे युद्धस्थल में पहुंचने के लिए प्रातः-काल की प्रतीक्षा बड़ी व्यग्रता से कर रहे हैं।" यह अमृतमय वचन सुन कर वनभागिनी की जान में जान आ गई। उसने भगवती को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया और कहा—"जननि! इस बालिका की प्रार्थना आज तुमने प्रत्यक्ष सुन ली। आज मुझे मालूम हो रहा है कि मेरे भी कोई है। तुम न कृपा करोगी तो कौन करेगा! तुम्हीं करुणा, दया, कृपा और सिद्धि हो। तुम्हारी ही भ्रूभङ्गी से सृष्टि का लय-विकास होता है। तुम शक्ति हो। क्या नहीं कर सकती हो!

* * * * * * *

घड़ी दिन चढ़ते चढ़ते युद्ध आरम्भ हो गया। चुटीले साँप और भूखे बाघ की तरह युवराज पीयूषवर्म्मा के सैनिक शत्रु-दल पर टूट पड़े। सब जान छोड़ कर लड़ रहे थे। जिधर झुक पड़ते थे उधर पाँती की पाँती साफ़ कर देते थे। इस प्रकार घोर सङ्ग्राम होते होते दो पहर होने पर आया। सूर्य्य-किरणों की सहायता से राजकुमार के सुन्दर मुख का तेज अपनी कलाएं भरपूर बढ़ा रहा था। वे म्लक्ष के अङ्ग अङ्ग को काट कर फेंक देना चाहते थे। रोष से मुख लाल हो रहा था। दोनों एक दूसरे पर बेतरह प्रहार कर रहे थे। एकाएक म्लक्ष का सिर कट कर पृथ्वी पर लोटने लगा। राजकुमार

की तलवार ने, वनभागिनी की तपस्या ने, वनेश्वरी देवी की कृपा और सूतक के विश्वासघात के पाप ने उसे यमालय का मार्ग दिखा दिया। उसकी रही-सही सेना के पैर उखड़ गए। वीर-सेना में जय-जयकार की ध्वनि मच गई।

युवराज पीयूषवर्म्मा उसी समय भाले में पलक का मुण्ड खोंभे हुए घोड़ा दौड़ाते वनभागिनी के पास पहुंचे और उसके चरणों पर उसे निकाल कर रख दिया। कहा—"बतलाइए, अब किस शब्द से आप को सम्बोधन करूं?"

वनभागिनी कृतार्थ हो गई। उसके भाग्य की मन्दता को पीयूषकुमार ने अपनी तेज़ तलवार से खुरच डाला। उस यामिनी ने कृष्ण से शुक्ल पक्ष में प्रवेश किया। उसने राजकुमार के प्रश्न के उत्तर में सुन्दर गन्धमाला उनके गले में डाल दी। विजयलक्ष्मी के साथ वनभागिनी ने वीर कुमार का वरण किया। उसका सांस्कारिक नाम देवहुती था। अपने वन-वास के कारण उसने बदल कर अपना नाम वनभागिनी रख लिया था।

—श्रीबिन्दु ब्रह्मचारी।

कर्म्मफल

रा जनहपान की कन्या धिरा वसन्त ऋतु की सुरभित वायु में राजकीय उद्यान में विहार कर रही थी। उसकी अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी। उसके साथ राजकुल की तीन चार कन्यायें और भी थीं। उनकी अवस्था भी ग्यारह से चौदह के भीतर ही थी। राजकन्या धिरा मालती के पुष्पों का हार तैयार करती थी। शेष कन्यायें फूल तोड़ तोड़ कर लाती थीं। उनमें से एक जिसका नाम कुशा था; बहुत से फूल तोड़ लाई थी। धिरा के पास बैठ कर ढेंपी तोड़ २ कर उसे फूल देती थी। उसकी सेवा से राजकन्या बहुत प्रसन्न थी। उसने कहा—"सखि! तुम फूलों का चुनना बहुत अच्छा जानती हो जिससे माला

गूँथने में बड़ी सहायता मिलती है। बताओ यह गुण तुमने किससे सीखा है?"

कुशा—"जिससे मैंने यह गुण सीखा है वे एक अपूर्व पुरुष हैं। आर्य्य हैं, विवेकी हैं, रूपवान् हैं, कलानिधान हैं, और कहां तक कहूं वे मनुष्य नहीं देवता हैं।"

घिरा—"अच्छा तो तुम यह कहो कि उनसे तुमसे परिचय किस प्रकार हुआ?"

कुशा—बड़ी कठिनता से, बड़ी तपस्या से मैं उनके चरणों तक पहुँच सकी। इसकी कथा बहुत बड़ी है। संक्षेप में यह है कि अकस्मात वे इधर आगए थे और मैं सरोवर पर स्नान करने गई हुई थी। वे भी स्नान करने को आए। मेरी दृष्टि जब उन पर पड़ी तब मुझे यही प्रतीत हुआ कि मैं भूलोक में नहीं हूं, दिव्यलोक में पहुँच गई हूं। उन्होंने भी कृपावारिधारा से मुझे निहाल कर दिया। तब से वे सरोवर पर रहने लगे और मैं उनकी सेवा को प्रतिदिन जाने लगी। इस प्रकार उनके सत्संग से यह दुर्लभ गुण मुझे प्राप्त हुआ।"

घिरा—"उन महा पुरुष का नाम क्या है?"

कुशा—"भगवान के चौबीस अवतार हैं, उन्हें तो तुम जानती ही हो। उनमें जो परमहंस हैं और जिन्हें जैन लोग अपना आदि पुरुष मानते हैं वही नाम उनका भी है।"

धिरा—"उनका नाम स्पष्ट रूप से कहने में तुम्हें क्यों लज्जा आती है, क्या वे तेरे प्रियतम हैं ?"

कुशा—"बात तो सच है। पर उनसे प्राकृत स्नेह सम्बन्ध नहीं है।"

धिरा—"ऐसा क्यों ?"

कुशा—"कारण यह है कि सांसारिक विषय उस वीर पुरुष को आकर्षित नहीं कर सकते। वे तो न जाने किस संस्कार से भूतल में आ पड़े और किस लगन में मगन रहते हैं। रूप में, तेज में, शील में, चरित में पूर्ण रूप से देवता हैं। इसी लिए विशेष रस का प्रसंग उनसे छेड़ना भी एक महा-पाप ही है।"

धिरा—"अब प्यारी उनका नाम स्पष्ट रूप से बताओ और यह भी कहो कि वे मुझपर भी कृपा कर सकते हैं ?"

कुशा—"स्पष्ट रूप से उनका नाम तो नहीं बतला सकती। पर इतना कह सकती हूं कि उनका नाम तेरहवें स्वर से आरम्भ होता है, उसके बाद मूर्धन्य है, फिर पवर्ग का चौथा अक्षर है और अन्त में देव शब्द उसमें जोड़ दिया जाता है। और तुम्हारे दूसरे प्रश्न के उत्तर में यह निवेदन है कि वे साक्षात् कृपा के समुद्र हैं। तुम पर मेरी ही तरह कृपा करेंगे।"

धिरा—"अच्छा, तो एक दिन दर्शन कराओ।"

२

सन्ध्या का समय है घाटपर कम्बल बिछाए एक रूपवान् कुमार बैठा हुआ है। उसके सामने एक कुमारी स्फटिक के पात्र में अंगूर के दाने चुन रही है। चुनते चुनते उसने कहा—"स्वामी ! राजकन्या आप का दर्शन चाहती है। यदि आज्ञा हो तो बुला लाऊँ।"

कुमार—"ऐसा उचित तो नहीं है पर, यदि उसकी उत्कट इच्छा है तो आवे।"

आज्ञा पाकर वह राजकन्या को बुला लाई। धिरा ने दूर से ही दर्शन किया और आसक्त होगई। उसकी दृष्टि कुमार की मुखछवि पर पड़ी, फिर टली नहीं। बहुत देर तक चांदनी रात में वह एकटक देखती रही। फिर सँभल कर उसने कुशा से कहा—"सखी ! यह हार ले जाकर गले में पहना दो।"

कुशा—"मैं हार पहनाने को तैयार हूं। पर, अच्छा होता, यदि तुम स्वयं अपने हाथ से अर्पण करती।"

धिरा—"मुझे तो संकोच मालूम होता है, निकट जाया नहीं जाता। इसी से तुमसे कहती हूं।"

कुशा—"सोतो ठीक है। पर जो आनन्द स्वयं पहनाने से तुम्हें हो सकता है क्या वह सुख मेरे द्वारा अर्पण करने से होगा ! इसपर विचार करलो। और लज्जा। सो तो इस प्रेम

पथ की सहचरी ही ठहरी। वह बाधा डाल कर प्रेम को बढ़ाती है। जब तुम साहसपूर्व्वक आगे बढ़ोगी तब वह आप ही पीछे हट जायगी।"

घिरा—"अच्छा, तुम्हारा कहा करती हूं।" यह कह कर वह हार हाथ में लेकर आगे बढ़ी। कुमार शिर झुकाए कुछ विचार कर रहा था। वह चुपके से गले में हार डाल कर अलग खड़ी हो गई। कुमार ने दृष्टि उठा कर उसकी ओर देखा और फिर मुँह फेर लिया। फिर मन्द-स्वर से कहा—"कुशा! तेरी सखी क्या चाहती है?"

कुशा—"स्वामी जी! मैं क्या जानूं? उसी से पूछिए पास ही तो खड़ी है?"

सखी की बात सुन कर घिरा ने धीरे से कहा—"मैं तो आप ही को चाहती हूं, और कुछ नहीं।"

कुमार—"सच है, स्त्रियों की स्वाभाविक इच्छा यही होती है। पर राजकुमारी! तुम मेरे रूप पर मोहित होगई हो, और कुछ तुमने विचार नहीं किया। सुनो, मैं म्लेच्छ जाति का हूं। कोई भी आर्य्य पुरुष मुझे अपनी कन्या नहीं देगा। राजा की तो बात ही और है। यदि ऐसा हो भी तो तुम्हें मेरे साथ कोई सुख नहीं मिलेगा। क्योंकि स्त्रियों को पुरुषों द्वारा जो कुछ भोग-विलास का सुख मिलता है वह मेरे पास है नहीं। इसी से कहता हूं कि तुम अपने विचार बदल दो।

किसी राजकुमार से सम्बंध जोड़ो और संसार का सुख भोग करो।"

धिरा—"नाथ! अब तो जो होना था सो हो चुका। मैं आप को वर चुकी। वरमाल पहना चुकी। अब अन्यथा कैसे हो सकता है। आप स्त्रियों का स्वभाव जानते ही हैं कि जिस पर आसक्त हो गईं उसीके हाथ बिक गईं। जिससे आँखें लड़ गईं उसी पर न्योछावर हो गईं।

ढरै ढार ते ही ढरै दूजे ढार ढरै न।
क्यों हूं आनन आन सों नयना लागत नैन।

और प्रेम-सम्बन्ध में जाति-पांति का विचार छोड़ ही देना पड़ता है। क्योंकि जैसे पुरुषों के जातित्व का निर्णय उपनयन संस्कार पर होता है उसी तरह स्त्री, चाहे जिस कुल में उत्पन्न हो, उसके जातित्व का विचार प्रणय पर ही अवलम्बित है। अन्त में सांसारिक सुख-भोग के बारे में मुझे यही कहना है कि मैं इन कुत्सित वासनाओं से प्रेरित होकर आप पर आसक्त नहीं हुई हूं। मैं पूर्वजन्मों में बहुत कुछ सांसारिक सुख-भोग चुकी हूं, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अब उसकी चिंता मुझे नहीं है।"

कुमार—"तुम्हारी प्रतिज्ञा भयङ्कर है, तुम्हारा प्रणय प्राणहीन है, क्योंकि प्रेम का स्थायिभाव रति है। इन सूक्ष्म बातों पर अच्छी तरह विचार करलो और अपने मन को तौल

लो जिसमें आगे चल कर धोखा न हो। सब से बड़ी बात तो यह है कि राजाधिराज नहपान जिसे तुम्हें ब्याह दें उसी के साथ तुम्हें जीवन निर्वाह करना चाहिए। माता-पिता से बढ़ कर कोई हितू नहीं है। तुम अच्छी तरह अनुमान कर सकती हो कि तुम्हारे पिता तुम्हारा विवाह मुझसे करने को भूल कर कल्पना भी नहीं करेंगे। अस्तु, तुम्हारे प्रेम-पथ में कांटे बिछे हुए हैं। भली भांति विचार कर काम करना चाहिए। सो अब तुम जाव। महल में तुम्हारी माता तुम्हें खोजती होंगी।"

धिरा—"इन चरणों को छोड़ कर जाने की इच्छा तो होती नहीं, पर, क्या करूं, आज्ञा का पालन अवश्य होना चाहिए।"

इतना कह कर धिरा कुशा के साथ बिदा हो कर चली गई।

३
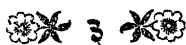
कुमार ऋषभदेव घाट पर बैठे ही रह गए। जब तक राजकुमारी रही तब तक तो उसका तिरस्कार ही करते रहे पर उसके चले जाने पर उनकी बुद्धि ठिकाने नहीं है। वे सोचते हैं कि उस रमणी पतिम्वरा ने जो प्रतिज्ञा की है इसका प्रभाव मेरे हृदय पर एकबारगी ऐसा पड़ा कि मैं अपने को संभाल न सका। धीरमति का जब आसन डोल जाता है तब

समझना चाहिये कि यह विधाता की कारिस्तानी है। फिर उससे सावधान हो जाना चाहिये और महामन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिए। कर्मभोगरूपी चादर इस युक्ति से ओढ़नी चाहिए कि पसीने से मैली न होने पावे और अवसर प्राप्त होने पर ज्यों की त्यों उतार कर धर दी जावे।"

इस प्रकार वे अपने मन को समझा-बुझा रहे थे। पर मन में एक बात भी बैठती नहीं थी। उसको मन्मथ ने ऐसा मथ डाला था कि स्नेहवृत्तिरूपी लहरी पर वह उतराया फिरता था। वे मन की चञ्चलता को जान-बूझ कर उसके दमन का उपाय सोच रहे थे कि इतने में कुशा कुमारी को पहुँचा कर लौट आई। कुमार ने मुसकरा कर पूछा—"क्या तुम्हारी सखी की प्रतिज्ञा सत्य है? क्या उसकी आसक्ति सत्यभाव पर है? क्या वह मुझपर अनुरक्त होकर सब कुछ त्याग सकती है?"

कुशा—"आप के तीनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' है।

ऋषभदेव—"अच्छा तो, कुशा! मैं उसकी कठिन परीक्षा लूंगा। तुम जाने रहना और मुझको 'निर्दयी' मत कहना। मैं अब शर्यणावत सरोवर पर जाता हूं, राजकुमारी से कह देना।"

कुशा—"नाथ! ऐसा मत कीजिए। आप के बिना मैं कैसे जीती रहूंगी। जब ये दर्शन दुर्लभ हो जायँगे तब प्राण-पंखेरू तन-पिञ्जर में किस लिए रहेगा?

कंचन से तन में यहाँ भरो सुहाग बनाइ ।
विरह आँच वापै कहो सहो कौन विधि जाइ ॥

ऋषभदेव—"तब क्या तू भी मुझ पर आसक्त है ? यदि ऐसा है तो तेरी परीक्षा भी उसी के साथ हो जायगी । अब कल से यहाँ मत आना । मैं सबेरे ही उस सरोवर के लिए प्रस्थान कर जाऊँगा मुझसे भेंट न होगी ।"

कुशा—"तो कृपया यह बता दीजिए कि शर्यणावत सरोवर कहाँ है ?"

ऋषभदेव—"कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत है । वहाँ सोमलता सदा लहराया करती है । अच्छा, अब तू चली जा । अपनी सखी से आज कुछ मत कहना । मेरे जाने का समाचार उसे कल देना ।

कुशा डरके मारे चुपचाप चली गई और बार बार मना करनेपर भी उसने उसी रात में राजकुमारी से प्रस्थान और परीक्षा की बात कह दी । साथ ही यह भी कहा कि किसी प्रकार यात्रा को स्थगित कराना चाहिये । राजकुमारी सुनकर स्तब्ध हो गई । चुपचाप एकान्त मन से कोई उपाय सोचने लगी ।

कुशा ने पूछा—"क्यों सखी ! क्या सोच रही हो ? कहने योग्य बात हो तो कहो" ।

राजकुमारी—"और कुछ नहीं उनके रोकने का उपाय सोच रही हूं। जब वे जाने ही के लिए तुले हुये हैं तो उन्हें भला अब कौन रोक सकता है। उसमें भी हमारी परीक्षा की बात है। यदि किसी उपाय से रोकने की चेष्टा करती हूं तो वे यही समझेंगे कि मैं परीक्षा से डर गई। सो चाहे कितना हूं कष्ट झेलना पड़े उन्हें रोकना अच्छा नहीं। जाने दो, वे जहां चाहें जायँ, हम वहाँ अवश्य पहुँचेंगी"।

कुशा—तब तो प्यारी! मुझे भी साथ ले चलना। मार्ग में कुछ सेवा ही कर दूंगी।

राजकुमारी—"अच्छा उस समय देखा जायगा। पर, तू उन्हीं के साथ क्यों नहीं जाती। वे तो तेरे गुरु हैं न"।

कुशा—"क्या कहूं, तुम्हारी तरह मैं भी उन पर अनुरक्त हूं। वह जान गए हैं और मेरी भी परीक्षा लेंगे"।

४

राजा नहपान ने बड़े समारोह से स्वयम्वर की तैयारी की। माघ शुक्ला पञ्चमी को दूर दूर देश से अनेक राजकुमार पधारे। दिन में अनेक धार्म्मिक कृत्य सम्पन्न हुए। रात में रंगभूमि में सब लोग एकत्र हुए। राजकुमारी के सौन्दर्य्य की प्रशंसा सुन सुन कर सब लोग उसे देखने के लिए बहुत उत्सुक थे। समय पर राजकन्या अपनी सहेलियों के साथ जयमाल हाथमें लिए हुए आई। तीन बार उसने मण्डप भर में चक्कर लगाया।

पर किसी भी राजकुमार को उसने उपयुक्त पात्र नहीं समझा। लौटकर अपने पिता के पास खड़ी हो गयी। इतने में कुशा एक चित्र लिए हुए आई। उसे देखते ही राजकुमारी जयमाल उस चित्र पर डाल कर चली गई।

अनन्तर बड़ा कोलाहल मचा—"किसका चित्र है?" यही ध्वनि चारों तरफ़ से आने लगी। राजा नहपान ने उस चित्र को हाथ में लेकर देखा। कमनीय कान्ति को देख कर बहुत प्रसन्न हुए। कन्या के अनुरूप वर को पाकर वह निहाल हो गए। गद्गद कंठ से उन्होंने कुशा से पूछा—'यह किस राजकुमार का चित्रपट है?" इस प्रश्न का उत्तर न देकर संकुचित हो कुशा महल में चली गई। लोगों की उत्सुकता बढ़ती ही जाती थी। राजकुमारगण अपना अपना आसन छोड़ कर एक एक करके राजा नहपान के पास पहुँचे। चित्र देख कर सब दंग हो गए। ईर्ष्या को भूल कर वह भी उसकी सुषमा पर न्योछावर हो गए। फिर सब ने वही प्रश्न किया कि चित्र किसका है। राजा नहपान ने गम्भीरतापूर्व्वक कहा—"मैं भी नहीं जानता कि यह चित्र किसका है। परञ्च इतना कह सकता हूं कि इस चित्र को राजप्रासाद की एक दासी लाई है। वह इस रहस्य को अवश्य जानती होगी। मैंने उससे पूछा था। पर उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। मालूम होता है कि यह चित्र मेरे किसी सम्बन्धी का है। तभी तो युक्तिपूर्व्वक

यह महल के भीतर पहुँचाया गया। इस समय आप लोग इतने ही से सन्तोष कीजिये। मैं इसकी जाँच-पड़ताल करके सर्व-साधारण पर विदित कर दूंगा कि मेरा भावी जामाता कौन है। राजा के वचन से सन्तुष्ट होकर सब लोग अपने अपने आसन पर जा बैठे। राजा महल में पधारे। पूछ-ताछ करने पर असली हाल विदित हुआ। वे बाहर आए और सीधे रंग-भूमि में पधारे। यहां सब लोग उत्सुकता पूर्व्वक उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। राजा ने कहा—"उस चित्रपट में किसी अज्ञात व्यक्ति ऋषभदेव की प्रतिकृति है। उसीका वरण राज-कन्या ने किया है। और प्रतिज्ञा तथा पतिम्वरा के इच्छानुसार उसी के साथ राजकुमारी का विवाह होगा। आप लोगों की दया और ईश्वर की कृपा से कन्या के अनुरूप वर मिल गया और यह उत्सव सफलतापूर्व्वक सम्पन्न हुआ मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर और यहां पधार कर जो आपने मुझे उपकृत किया है उसके लिए अनेक साधुवाद और सेवा-सत्कार में जो त्रुटियाँ हो गई हों उनके लिए क्षमाप्रार्थी हूं"।

राजा के भाषण के अन्त में गान्धार देश का बलवन्त नामक राजकुमार उठा और आमन्त्रित राजकुमारों की ओर से उसने राजा को धन्यवाद दिया। अन्त में उसने स्पर्धावश व्याज से कहा—"राजन्! भारत के इतिहास में यह स्वयंवर अपने ढङ्ग का एक ही है। क्योंकि किसी व्यक्ति के चित्र पर

जयमाल डालने की बात न सुनी गई और न देखी गई। उस में भी विचित्रता यह कि आप उस व्यक्ति को जानते ही नहीं। उसके कुलशील का भी पता नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वह इस सम्बन्ध को पसन्द करेगा अथवा इन्कार कर देगा। जब वह स्वयं स्वयंबर में नहीं उपस्थित हुआ तब हम कैसे मानलें कि विवाह करने की इच्छा उसके मन में है? अस्तु। परिणाम यह होगा कि राजकन्या कुमारी ही रह जायगी। अतः मैं आप से अनुरोध करूंगा कि आप अपने विचार को फिर से दुहरावें और या तो आप स्वयं उपस्थित राजकुमारोंमें से किसी के साथ उसकी गांठ जोड़ दें अथवा कन्या ही से कहें कि वह हम में से जिसे चाहे वरण करे"।

इसके उत्तर में नहपान ने कहा—"यदि मुझे ऐसा ही करना होता तो स्वयम्बर की रचना की कोई आवश्यकता नहीं थी। अब मैं प्रतिज्ञाबद्ध हूं, अपने विचारों को बदल नहीं सकता और कन्या के अर्पित जयमाल को दुबारा उठाना धर्मनीतिके विरुद्ध है। अतएव, चाहे कुछ भी परिणाम हो, मैं विवश हूं, क्षमा कीजिएगा।

बलबस्त निरुत्तर हो कर अन्य कुमारों के साथ चला तो गया पर मन में कसक लेकर गया। वह राजकुमारी पर पूर्ण रूप से आसक्त था। उसने ठानली कि जब राजकन्या का पाणि-

ग्रहण मैं न कर सका तो और किसी को भी नहीं करने दूंगा। वह आजन्म कुमारी ही रहे तो अच्छा है। इस लिए वह अपने विश्वस्त गुप्तचरोंको यहां छोड़ गया कि जैसी व्यवस्था हो उसकी सूचना वे उसे तुरन्त दें। गान्धारकुमार बड़ा नीतिज्ञ पुरुष था।

सबके बिदा हो जाने पर यह गुप्त भेद खुला कि वह चित्र राजकुमारी ही का बनाया हुआ है। जिस समय वह ऋषभ पर आसक्त हुई थी उसी समय का दृश्य उसमें अङ्कित था। उसमें एक ओर उसका अपना भी चित्र था और कुशा का भी। दोनों उस रूप राशिपर न्योछावर हो रही थीं, यही भाव उससे प्रस्फुटित होता था।

५
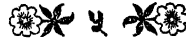
भ्रू दण्डी कांटा तिलक पल चक्र पूतरि बाट।
तौलति मूरति मीतकी प्रेमनगर के हाट॥

"धिरा तुम मेरी स्वामिनी हो और मेरी सख भी हो। तुम से कुछ छिपा नहीं है। तुम जानती हो कि तुम से पहिले मेरा प्रणय दृढ़ हो गया था और मैं तुमसे कुछ कम उनपर आसक्त नहीं हूं। उन्होंने परीक्षार्थ मुझे भी बुलाया है। तुम राजकुमारी हो, तुम्हारे साथ बहुत से अडङ्गे हैं। अनेक चेष्टा करने पर भी तुम्हारा मार्ग प्रशस्त नहीं हुआ। सो कृपापूर्व्वक मुझे आज्ञा दो कि मैं उनके पास चली जाऊं। मुझे एक तुम्हीं से आज्ञा लेनी है और न मुझे कोई रोकनेवाला है और न कोई पेच-पाच।

वहां जाकर तुम्हारा भी कार्य सुधारूंगी और तुम भी जैसे बने तैसे बन-बना कर ज़ल्दी चली आना।"

सखी की बातें सुन कर राजकुमारी बहुत दुःखी हुई। उसने आंखों में आंसू भरकर कहा "कुशा! तू जा, प्रियतम के पास जा। तेरी मनोकामना सिद्ध हो। मैं प्रेमपूर्व्वक तुझे आज्ञा देती हूं। मुझे जो कुछ खल रहा है वह तेरा वियोग है। मैं तेरीसो सखी कहां पाऊंगी जिससे जी का हाल कहूंगी। बस, यही दुःख है और कुछ नहीं।"

कुशा—"तो इसके लिए क्यों इतनी विकल होती हो। मैं एक उपाय बता देती हूं। चित्र मनभावन तो तुम्हारे पास हई है। एकान्त में उसे हाथ में लेकर बैठना। प्रियतम के दर्शन से कृतार्थ होकर उसी जगह अपने पास खड़ी मुझे देखकर जो कुछ तुम्हें कहना हो कह देना। यदि प्रतीकापासना सत्य है तो वे सब बातें मेरे मन में उतर आवेंगी।

राजकुमारी कुशा की आश्वासन भरी बातें सुनकर पुलकित हुई और इस सम्बन्ध में फिर कुछ कहना चाहती थी कि कुशा की दृष्टि एक दूसरी सखी की ओर आकर्षित हुई। राजकुमारी भी उसके स्वागत में तत्पर हो गई। वह प्रधान मंत्री की कन्या श्रुता थी। उसने आते ही निराशापूर्ण शब्दों में कहा,—"आज अमात्य विरोचन अभी अभी शर्यणावत् सरोवर से लौटे आ रहे हैं। तुम्हारे निष्ठुर प्रियतम ने कहला भेजा

है कि एकतो मैं विवाह ही नहीं करना चाहता दूसरे मैं म्लेच्छ-कुल में उत्पन्न हुआ हूं, मैं किसी आर्यललना का पाणिग्रहण करके उसे रसातल को पहुँचाना नहीं चाहता। यद्यपि राजा-जी की प्रतिज्ञा और पतिम्वराकी रुचिके अनुसार ऐसा करने में मुझे कुछ पाप नहीं लगता पर जहां कर्मविपाक के जटिल और कठिन नियमानुसार धर्मराज युधिष्ठिर को जीवन भर में एक बार धोखे से झूठ बोलने के कारण नरककी हवा खिलाई जाती है वहां इस निन्द्य सम्बन्ध के जोड़ने के कारण हमारी क्या गति होगी सो भी विचार कर लेनी चाहिए। जब भगवान् ने मनुष्य को बुद्धिविवेक से सम्पन्न किया है तब उसका यही तात्पर्य हो सकता है कि ऐसे अवसरपर हम उससे कामलें। सुनिए, इसका परिणाम यह होगा कि मैं तो अगले जन्म में विप्रकुलमें उत्पन्न हूंगा पर राजा जी, उनकी कन्या? उसकी सखी और भी इससे संबद्ध जो कोई होगा सब के सब म्लेच्छकुल में पतित होंगे। फिर वह ताना तनेगा कि जिसके रूई-सूत का ओर-छोर न होगा। एक ही नहीं, अनेक जन्म लेने पड़ेंगे तब कहीं किसी जन्म में सब के सब इकट्ठे होंगे और कर्मफल का भोग-भुकान होगा। अस्तु। इस सम्बन्ध में मुझे तो लाभ ही है पर औरों की हानि है। मैं नहीं चाहता कि दूसरों को हानि पहुँचा कर लाभ उठाऊं। इसीलिए मैं आग्रहपूर्व्वक कहता हूं कि राजाजी अपनी कन्या

को किसी योग्य दानपात्र को अर्पण करें। यदि पतिम्वरा अपना हठ न छोड़े तो उसे मेरे पास भेजिए मैं उसे समझाने की चेष्टा करूंगा।" इस समाचार को अमात्य के मुख से सुन कर राजाजी बहुत निराश हो गए और कहने लगे कि विधि की रचना अपूर्ण है। क्या ऋषभदेव जैसे स्वरूपवान्, विद्वान् और गुणवान् का जन्म म्लेच्छकुल में होना चाहिए? पाठको कीट से पैदा करनेवाले के लिए यह कुछ अघटित बात नहीं है। पर मैं क्या करूं! यह जान कर भी कि ऋषभ म्लेच्छकुल का है मेरी श्रद्धा उस पर से घटी नहीं, प्रत्युत बढ़ी जाती है। मैं तो यह चाहता हूं कि चाहे मैं सपरिवार म्लेच्छकुल में पतित हो जाऊं पर राजकन्या का विवाह ऋषभ ही से हो। चाहे कुछ भी परिणाम हो मैं तो अपनी कन्या का विवाह उसी से करूंगा। इस पर विरोचन ने कहा—"आप क्या जान-बूझ कर कूएं में गिर रहे हैं? देखिए, म्लेच्छ होकर ऋषभदेव कैसी कैसी ज्ञान की बातें कहता है और निःस्वार्थ भाव से औरों के धर्म्म की रक्षा के लिए प्राप्त कन्यारत्न का त्याग करता है और आप आर्य होकर अपने रेक-टेक को भूल कर ऐसी निन्द्य कृति करना चाहते हैं।" अमात्य की फटकार सुनकर राजा ने शिर झुका लिया और कहा,—"अरे भाई! दिल को भी देखोगे या सिद्धान्त ही बघारा करोगे। मान लिया कि तुम्हारा कहना अक्षरशः ठीक

धर्म्म में दीक्षित होकर कठिन तपश्चर्य्या में तत्पर है। तभी तो उसने ज्ञानी पुरुषोचित बातें कहला भेजी हैं। नहीं तो कामिनी-काञ्चन का त्याग करनेवाला कौन है? ऋषभदेव जन्म से म्लेच्छ है पर गुण-कर्म से उसे सब लोग आर्य ही कहते हैं और सम्मान करते हैं। यदि आप कन्या का विवाह कर दें तो कोई पण्डित इसको अनुचित कार्य नहीं कहेगा और न आप की अपकीर्ति ही होगी। परन्तु महाज्ञानी ऋषभ ही इसको स्वीकार कठिनता से करेगा। उसकी पहुँच बहुत दूर तक है। वह जानता है कि कलि के प्रभाव से शुद्ध आर्य वंश का नाश होगा और म्लेच्छ का उसमें मिश्रण होगा। इसका समय आ गया है। पर वह इस दैविक चक्र की फिर की नहीं बनना चाहता। दूसरे वह अपनी प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने के लिए भी ऐसा करने से डरता है। लोग यही कहेंगे कि आर्यरमणी से विवाह करने ही के लिए वह भागवत धर्म्म में दीक्षित हुआ। वह न बगुला-भक्त है और न ऐसा कहलाना चाहता है। वह वासुदेव का अनन्य भक्त है। अस्तु। यदि आप की यही इच्छा है कि कन्या का विवाह ऋषभ ही से हो तो इसमें मेरी भी सम्मति समझिए। जन्मान्तर की बात छोड़ कर वर्त्तमान काल में कोई क्षति नहीं है। केवल ऋषभ को अनुकूल करना है। उसके लिए एकमात्र उपाय यही है कि राजकुमारी को गुप्त रीति से बिना किसी आपत्ति के उसके

पास भेज दीजिए।" अमात्यका भाषण सुन कर राजा बहुत सन्तुष्ट हुए। विरोचन अपने घर चले गए और मैं सब हाल तुम से जनाने यहां चली आई हूं।"

श्रुता का सरस, उपयोगी और मनोमुग्धकारी व्याख्यान सुन कर राजकुमारी बहुत प्रसन्न हुई। उसको फिर से हृदय में चिपका लिया और कहा—"सखो! तुम्हारी धारणा विचित्र है। तुमने नृपति-विरोचन-सम्वाद का वर्णन जैसा ठीक ठीक किया है वैसा हममें से कोई नहीं कर सकता।"

६
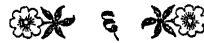
राजकुमार बलबस्त के गुप्तचरों ने उसको सूचना दी कि "ऋषभदेव ने राजकन्या के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया। आप यहाँ पहुँच कर अपने पक्ष को पुष्ट कीजिए। राजपरिवार के बहुत से लोग आप के पक्ष के हो भी गए हैं। केवल राजा जी को राज़ी करना है।"

सूचना को पढ़कर बलबस्त हर्षोत्फुल्ल नेत्र से बार बार उसे पढ़ने लगा। फिर सावधान होकर उसने वहाँ जाने की तैयारी की। केवल एक सखा और सेवक को लेकर वह चला, पर शृगाली राह काट कर निकल गई। मन में तो आया कि लौट चलें, दूसरे दिन यात्रा करेंगे, पर ऐसा हुआ नहीं। सखा के कहने से वह आगे बढ़ा। पहुँचने पर राजा नहपान ने उसका यथोचित सम्मान किया। पुराने सम्बन्ध के कारण वह राज-

महल ही में ठहराया गया। यहाँ आने पर उसे मालूम हुआ कि गुप्तचरों की बातें सब सच हैं और राजा एवं विरोचन को छोड़ कर सब लोग उसके पक्ष के हैं। अतएव उसने इन दोनों को राज़ी करने की भरपूर चेष्टाकी और उसने विरोचन को अपने पक्ष में मिला कर राजा पर ऐसा दबाव डाला कि उनसे नहीं करते नहीं बना। सफल मनोरथ होकर बलबस्त चांदनी रात में प्रांगण में बैठ कर पण्डितों, कवियों, गायकों आदि को पुरस्कार बांटने लगा। सब लोग न्योछावर लेकर और आशीष् देकर बिदा होते गए। अन्तमें लग्न जगानेवाली, विवाह की गीत गानेवाली सौभाग्य—संगधरी नायिकाओं का आगम हुआ। वे मधुर-भाषिणी और आशुकवि थीं। संगीत-कला में तो वे एक से एक बढ़ चढ़ कर थीं। बलबस्त भी बड़ा गुणग्राही था। उसने सम्मानपूर्व्वक उन विदुषी स्त्रियों का मुजरा लिया। सब ने तरह तरह की रागिनियों में भावपूर्ण गाने भर भर कर सुकोमल स्वर से सुनाया। कुमार प्रसन्न होता जाता था और विशेष विशेष भावों की प्रशंसा करता जाता था। अनन्तर एक महिला ने खड़ी होकर ऐसी तिलाना छेड़ दी कि सब लोग स्तब्ध हो गए। कुमार ऊंचे आसन पर से खिसका और धड़ाम से नीचे गिरना ही चाहता था कि उसी नायिका ने लपक कर उसे गोद में ले लिया और पृथ्वी पर बैठा दिया। सावधान होने पर बिना आंख खोले ही

कुमार ने पूछा—"कौन है ?" उस नायिका ने कहा—'तुम्हारी भगिनी । झट कुमार ने आंखें खोलकर कहा—"अहो ! जिसने मुझे गिरते गिरते बचाया वह अवश्य मेरी भगिनी है । क्योंकि बालपन में मेरी बहन ही थी जिसने प्रकोटे से गिरते गिरते मेरी जान बचायी थी । सो भगिनी तुमको मैं उससे भी श्रेष्ठ भगिनी मानता हूं । तुम जो चाहो मुझ से मांगो । उस नायिका ने कहा—यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं यही मांगती हूं कि मुझे गाना सुनाने के बदले कोई पुरस्कार न मिले । आप केवल आजन्म यही समझते रहें कि यह मेरी प्यारी बहन है ।" कुमार ने कहा—"बहन ! मैं सदा ऐसा ही समझूंगा और तुमसे मेरा यही सम्बन्ध जीवन भर अक्षुण्ण रहेगा । पर यदि बहन को भी भाई कुछ प्रेमपूर्व्वक दे तो उसे स्वीकार करना चाहिए ।" इसके उत्तर में नायिका ने कहा—"हां, ठीक है जब आप का विवाह होगा और मैं जोड़ी परखूंगी तब जो कुछ दीजिएगा स्वीकार करूँगी ।"

कुमार—"नहीं बहन ! कुछ तो इस समय स्वीकार करो, मेरा सन्तोष कैसे हो । लो, यह माणिक्य लो । इसे किसी भी भूषण में जड़ा कर पहनना और अपने इस भाई को याद रखना ।"

उस नायिका ने माणिक्य ले लिया । अनन्तर औरों को यथेष्ट पुरस्कार मिला, विदा होकर सब चली गईं । पहर

रात रहे यह पुरस्कार-वितरण-उत्सव समाप्त हुआ और कुमार ने भोजन करके विश्राम किया।

सकारे उसके उठने पर गुप्तचरों ने आकर कहा—"आपने बड़ा अनर्थ कर डाला। जिस नायिका को आपने अमूल्य माणिक्य बहन कह कर दिया है वह और कोई नहीं राजकुमारी ही है। अब उसका पाणिग्रहण आप कैसे करेंगे ?"

बलबस्त सुन कर चौंक पड़ा, सर पीटने और कहने लगा—"अहो ! बड़ा धोखा हुआ। तुमने इसकी सूचना मुझे उसी समय क्यों नहीँ दी ?"

गुप्तचर। "कुछ हमें मालूम हो तब न दें। उस चतुर रमणी ने ऐसा स्वांग बनाया कि किसी को कुछ पता ही नहीं लगा। क्या कहें, सब किया कराया मिट्टीमें मिल गया। अब पछताने के सिवा कुछ हाथ में नहीं है।"

बलबस्त—"अच्छा ही हुआ, जानेदो। कौन पछतावे के गढ़े में डूबे। जब भगिनीका नाता उसने जोड़ लिया तब मेरा भी भाव बदल गया। मैं भी उसे सहोदर भगिनी ही के समान प्यार करूँगा। मुझे इस बात का गर्व होता है कि मेरी भगिनी अपने विमल व्रतपर मर मिटने को तैयार है। उसने अपने आप निज कला के प्रभाव से नारीधर्म की रक्षा की है। मैं उससे बहुत प्रसन्न हूं।"

दो पहर को दरबार लगा। बलबस्त ने खुले दिल से भरी सभा में कहा,—'राजन्! रात की अपूर्व घटना से मेरा विचार बदल गया। राजकुमारी मेरी बहन हो चुकी और मैं उसे वैसा ही मानूँगा। आप उसका विवाह मनोनीत पति ऋषभदेव ही से करें। मैं स्वयं शर्यणावत् सरोवर पर आप की तरफ़ से जाऊँगा और उन्हें विवाह करने पर राज़ी करूँगा।"

कुमार बलबस्त की बातों का लोगों के दिलपर बड़ा प्रभाव पड़ा। विरोचन आदि मंत्री जो राजा को धर्मविरुद्ध आचरण करने की अनुमति देते थे सब दंग रह गए, किसीने कुछ नहीं कहा। तब राजा ने कहा—"मैं तो प्रतिज्ञा ही कर चुका हूं कि कन्या ने जिसे वरण किया है उसे ही जामातृ बनाऊँ पर आप लोगों के द..व में पड़ कर मुझे विवश हो उसे भंग करना पड़ता था। परन्तु स्वयम् भगवान् ने यह चरित्र कराके मेरी लाज रख ली। मुझे बड़ी ग्लानि थी, खाना-पीना कुछ नहीं सुहाता था। क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ रहीं सूझता था। अब यह वृत्तान्त सुन कर चित्त सावधान हुआ है। और अनुकूल मत पाकर सन्तुष्ट हुआ हूं।"

फिर बड़ी देर तक राजकुमारी और ऋषभ का गुण-कीर्त्तन होता रहा। अन्त में बड़े आनन्द के साथ सभा विसर्जित हुई।

७
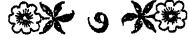
शर्यणावत सरोवर ठीक अष्टकोण के आकार का है। उसके आठौं कोनोंपर शाल्मली के वृक्ष लगे हुए हैं। पश्चिम ओर पूर्व्वाभिमुख एक पर्णकुटी बनी हुई है और उसके दक्षिण पक्षपर एक सुहावन कुञ्ज है जिसमें सोमलता लहरा रही है। सरोवर से एक छोटी सी क्यारी फूट कर कुञ्ज में निकली है जिसके द्वारा दिव्य लता सदा सिञ्चित रहती है। चारों ओर एक शत धनुष् प्रमाण मैदान है और उसके बाद घोर जंगल है जिसमें हिंस्र जन्तुओं का निवास है और चित्र-विचित्र पक्षियों का बसेरा है।

गोधूलि का समय है। विहंगों का कोलाहल आरम्भ हो गया है। आकाश में लालिमा अब नाममात्र भी नहीं है। स्फटिक की सीढ़ियोंपर बैठे हुए ऋषभदेव प्रशान्त जल में पड़े हुए वृक्षों की छाया को निहार रहे हैं। उनका चित्त उपराम को प्राप्त हुआ है। वे एकाएक इधर उधर देखने लगे। फिर उनकी दृष्टि आकाश की ओर गई। उन्होंने देखा कि एक विशाल पक्षी वेग से उड़ता हुआ आ रहा है। धीरे॰ धीरे वह मैदान् में उतरा। तब क्या देखते कि वह पक्षी नहीं है, किन्तु पक्षी के आकार का एक उड़न खटोला है जिसमें से एक परम सुन्दरी रमणी उतर पड़ी और सरोवर की ओर खिंची। बहुत प्यासी थी। पहले जल भरपेट पिया तब हाथ पैर धोकर

वह कुटीपर आई। उसे देखते ही ऋषभ ने पहचान लिया। प्रसन्न होकर बोले—"कुशा! तू ऐसा कठिन मार्ग तै कर के यहां कैसे आई।"

कुशा—"भगवन्! आप की आज्ञा ही ऐसी थी। परीक्षा देने आई हूं। इस से पहले सेवा में उपस्थित न होने के लिए क्षमा मांगती हूं।"

ऋषभ—"परीक्षा देगी! अच्छा पहले उस कुञ्ज में से कुछ पत्तियां तोड़ ला और उस का रस गार कर पी ले कि क्षुधा-तृषा की निवृत्ति हो तब परीक्षा की बात होगी।"

कुशा कुञ्ज से पत्तियां तोड़ लाई और देवदुर्लभ सोमरस का पान करके कृतार्थ हो गई। अनन्तर मुनिके पूछनेपर उसने सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। और यह भी कहा कि बलबस्त राज-कन्या को लेकर शीघ्र यहां आनेवाला है।

ऋषभ गान्धार-कुमार के आगमन का समाचार पाकर कुछ चिन्तित सा हो गया, उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगा। थोड़ी देर के बाद उसने पूछा—"कुशा! तुम मेरे रूप पर आसक्त हो अथवा गुणपर या दोनों पर?"

कुशा—"प्राणधन! मैं तो उस समय आप पर न्योछावर हुई जब न तो मैंने आप का रूप देखा था और न गुण से परिचय था। एक दिन रात को मैं महल से बाहर जा रही थी। रात अन्धेरी और भयावनी थी। आप की परछाहीं मेरे

अंग पर पड़ी! मालूम हुआ कि अभी गंगा में स्नान कर के प्रविन्न हुई। उस पवित्र छाया पर मैं आसक्त हो गई। अपना काम भूल कर मैं आप के साथ साथ सरोवर पर गई। तब से शनैः शनैः आप के कैंकर्य्य में भाग लेने लगी। अब तो आप का रूप और गुण दोनों ही मेरा जीवन है।"

ऋषभ—"यदि यह बात ठीक है तो ले यह कालकूट तो निगल जा।"

कुशा लेकर प्रसन्नतापूर्व्वक उसे खा गई। उसी समय उसे मूर्च्छा आई। पर उसका वदन काला नहीं हुआ प्रत्युत उसमें और भी तेज आगया और विना किसी उपचार के वह आप से आप उठ बैठी। ऋषभ ने पूछा,—"कह, कैसी हालत है? तू सावधान हुई या नहीं?"

कशा—"प्राणनाथ! मैं सचेत हूं। दो दण्ड के लिए नहीं मालूम किस उद्यान में चली गई थी। पर वहां भी आप ही का साथ था। आपने नीबू का रस गार कर, बहुत मीठा रस, मुझे पिलाया था। उसका स्वाद अभी तक मेरी रसना पर है। मुझे गर्मी-सर्दी कुछ मालूम नहीं होती। पूर्व्वापेक्षा चित्त प्रसन्न है।"

ऋषभ—"कुशा! तू जो कुछ कहती है सच है। तू मेरी पूर्वपत्नी है और भावी प्राण-वल्लभा होगी। इसमें सन्देह नहीं। तेरी परीक्षा हो चुकी और कसौटी पर कसे हुए सोने की तरह

तू ठीक उतरी। परन्तु प्यारी! मैं म्लेच्छ होकर भागवत धर्म्म में दीक्षित हो चुका हूं। इस धर्म्म के अनुसार मैं किसी भी नायिका का पाणिग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि यदि किसी म्लेच्छकुल की कन्या से, जैसा उचित है, सम्बन्ध करता हूं तो मैं स्वयं पतित होता हूं और अन्य कुल से ऐसा व्यवहार करने का मैं पात्र नहीं हूं। अस्तु, इस जन्म में हमारा तुम्हारा दाम्पत्य प्रेम स्थायी भाव से रहित होगा। हां, सह-धर्म्मिणी का भाव अच्छी तरह चरितार्थ हो सकता है। मैं भगवान् वासुदेव की आराधना करता हूं। तुम भी इसमें मेरा साथ दे सकती हो। इसमें हमारा तुम्हारा दोनों का कल्याण है। भक्तजन-कल्पना-कल्पद्रुम भगवान् जो कुछ मांगोगी देंगे। कहो, तुम्हें स्वीकार है?"

कुशा—"हां, स्वीकार है। व्रत तो महाकठिन है पर आशा है, भगवान् वासुदेव, उसे पार लगा देंगे।"

ऋषभ—"अच्छा, यह कमकुम सुहाग-स्वरूप मैं तुम्हें प्रदान करता हूं और तुम्हें अपने इष्ट के सन्मुख उपस्थित करता हूं। तुम भी मेरी तरह भगवत्-भजन ही में कालक्षेप करो और प्रातःकाल तुम अपनी उड़न-खटोला पर उड़ कर जहां से आई हो वहीं चली जाव। यहां तुम्हारे रहने से काम-रूपी चोर मेरा सर्वस्व हरण कर ले जायगा। अब मैं कुटी के भीतर भजन करने जाता हूं।"

मुनि भजन करने चले गए। कुशा अकेली सरोवरतट पर कुछ देर बैठी रही और मन में कहती रही "किसी को मैंने दाम्पत्य सुख से वञ्चित किया होगा, उसी का दण्ड मुझे इस जन्म में मिल रहा है। अच्छा, पति की अनुकूलता भी स्त्री के लिए सब कुछ है। किसी प्रकार अंगीकार तो कर लिया। यही बहुत है।"

प्रातःकाल ऋषभ कुटी से बाहर आए। कुशा भी स्नान आदि से निवृत्त होकर तैयार थी। मुनि ने फिर उसे सोमरसपान कराया और विदा किया। विरह से कातर होकर कुशा ने चलते चलते कहा—"नाथ! इस दासी के एक मात्र अवलम्बन आप ही हो। वासुदेव भगवान् के चरणकमलों के नीचे अपने हृदय में इस दासी के लिए भी स्थान रखना।" ऋषभ ने कहा—"एवमस्तु" और वह उड़न-खटोला पर बैठ कर चली गई।

८

ऋषभ ने विषय त्याग के लिए संसर्ग त्यागना बहुत आवश्यक समझ कर कुशा को लौटाल दिया सही, परन्तु उसके चित्त में इस कृत्य से क्षोभ उत्पन्न हो गया। अब उसको पता लगा कि कुशा ही उसपर आसक्त नहीं है उसका मन भी छिपे छिपे प्रेमवश बावला हो रहा है। जबसे वह गई तबसे उसीका ध्यान बना रहता है। उसको यह भी अनुभव होता रहा कि

भगवान् कह रहे हैं कि या तो मुझसे प्रेमकर या उस स्त्री से। दोनों नहीं हो सकता। बेचारा ऋषभ बड़े संकटमें पड़ा। दूसरे की परीक्षा लेने चला स्वयम् ही कठिन परीक्षा के जाल में फंस गया। कहां वह राममय संसार देखता था और अब नारीमय संसार देख रहा है। उसने घबरा कर प्रपत्ति की दुहाई दी। भगवत्-स्वरूप में उसका ध्यान जमता नहीं था। क्योंकि बिना प्रत्याहार के धारणा ठीक नहीं होती और बिना धारणा के ध्यान कौड़ी काम का नहीं। इसी उलझन में पड़ा था कि इतने में राजसी ठाट-बाट से एक राजकुमार आया। उसके साथ बहुतसे लोग थे। स्त्रियां भी थीं। ऋषभ ने स्वागतपूर्वक उन्हें आश्रय दिया। शाल्मली वृक्षों के नीचे पड़ाव पड़ा। सब को रस पिलाने के लिए सोमलता की पत्तियां उतार लाया। पर गारनेपर उसमें से एक बूंद भी रस नहीं निकला। तब उसका माथा ठनका। वह समझ गया कि अवसर पाकर कामरूपी तस्कर ने उसकी आध्यात्मिक सम्पत्ति का अपहरण कर लिया। बेचारा भक्त मुरझा कर रह गया। फिर क्या करता? बची-खुची सिद्धियोंका उपयोग करके उसने राजसी ठाठ से अच्छे अच्छे पदार्थ सबको खिलाए। सब लोगों को मुनि का वैभव देखकर अचम्भा हुआ। सब उनकी प्रशंसा करने लगे।

अनन्तर राजकुमार अकेले मुनि के पास कुटी में आया। भूआसनपर बैठ गया। ऋषभ ने शालीनतापूर्व्वक प्रश्न

किया—आप अपने शुभ नाम और धाम आदि का परिचय देकर अनुगृहीत करें।"

राजकुमार—"इस सेवक का नाम बलवक्त है। महाराज नहपानकी प्रेरणा से चरणोंमें उपस्थित हुआ हूं। आपने सुना होगा कि मेरी भगिनी राजकुमारी घिराने आपके निज अङ्कित चित्र को वरण किया है। इसके सम्बन्ध में बात-चीत भी कुछ हो चुकी है और आपने अनेक आध्यात्मिक कारणोंसे सम्बन्ध स्थापित करने से इनकार भी कर दिया है परन्तु दूसरा कोई उपाय न होने के कारण महाराज ने राजकन्या-समेत मुझे फिर भेजा है और प्रार्थना की है कि जन्मान्तर की कल्पना का त्याग करके आप राजकन्या को किसी भी तरह अपनी सेवा में स्वीकार करें। और नहीं तो भगवत्-पार्षद ही मांज दिया करेगी। कुछ तो धर्म्म-पालन में उससे सहायता मिलेगी। वह भी आपके साथ रामका नाम लेकर कृतार्थ हो जायगी। आपने जिन कारणों से इनकार किया है उनमें से आपका अपने को म्लेच्छ समझना मुख्य है। इसी के आधार पर जन्मान्तर के दुष्परिणाम की कल्पना है। सो मेरे विचार में तो आप अब म्लेच्छ हैं ही नहीं। कोई भी आर्य आपको म्लेच्छ न तो कहता है और न समझता है। भागवत धर्म ने तो सचमुच आपका रूपान्तर और जन्मान्तर कर दिया। उसपर यह कि आप सिद्ध पुरुष हैं। साक्षात् भगवत्-स्वरूप हैं। तब आप

अपने को म्लेच्छ क्यों समझें ? आप अपने को भगवान् का भक्त ही केवल क्यों न समझें ? मैं आपको म्लेच्छ समझ कर अपनी बहन ब्याहने नहीं आया हूं बल्कि भगवत्-भक्त समझ कर। जैसी भावना होगी वैसा ही फल भी मिलेगा। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप अपने स्वरूप को चेतें, अपने को भगवत्-भक्त ही एक-मात्र समझें। इसी में आपका और हमारा कल्याण है। मैंने बड़ी धृष्टता की, क्षमा कीजिएगा"।

बलवस्त की स्वाभाविक वार्ता से ऋषभ निरुत्तर होगया। उसने स्वीकार कर लिया। उसी समय सुअवसर जानकर राजकुमारी धिरा हाथ में जयमाल लिए आई और उसे प्रेमपूर्वक अर्पण करके चरणों में बैठगई। आंखों से प्रेमधारा प्रवाहित हो चली। उसे देखकर कुमार और ऋषभ के नेत्र भी सजल हो गए। ऋषभ ने कुमार के सामने ही कह दिया कि "देवि ! मेरे कारण तुम्हें महान् कष्ट सहना पड़ा। क्षमा करना।"

दूसरे दिन सब लोग ऋषभदेव समेत वापस गए। राजा नहपान ने बड़े समारोह के साथ मुनिका स्वागत किया, लग्न शोधकर विवाह हुआ। जब सब कृत्य सम्पन्न होगया तब बलवस्त बिदा होकर अपने देश को गया। चलते समय ऋषभ ने बलवस्त से कहा—"राजकुमार ! मैंने सब वृत्तान्त सुना है। आप जैसा उदार और स्वार्थत्यागी पुरुष

मैंने आज तक नहीं देखा। मेरे हृदय में आपका आसन बहुत ऊँचा है"।

९
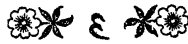
देवकुल में वर-कन्या के तीन दिन तक वास करने की प्रथा बहुत पुरानी है। तीसरे दिन महामाया की पूजा होती है, ब्राह्मणों को दान दिया जाता है। तब चौथे दिन सुहाग लेकर वर-कन्या घर आते हैं और गृह-प्रवेश होता है। कुलपरम्परागत इसी रीति के अनुसार राजकन्या धिरा के साथ ऋषभ देव-कुलवास करने गये। साथ में कुशा भी गई।

कुशा बहुत उदास थी। धिराने बहुत पूछा पर उसने कुछ कारण बतलाया नहीं। फिर ऋषभ ने पूछा—बड़े प्यार से पूछा। उसपर आवेश में आकर कुशा ने कहा—

हौं तबकी दुलही हती अब की दुलही नाँहि।
भाग सराहति हौं निरखि मांग सँवारत जाहि॥

ऋषभ के हृदय पर इसका ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उसने उसी समय धिरा की वेणी छोड़ कर कुशा का ताग-पाट समेत मांग भर दिया। राजकुमारी ने भी उसे बड़ी बहन कह-कर सम्मानित किया। फिर बड़े आनन्द के साथ तीन दिन कटे। चौथे दिन जब देवी के मण्डप में सुहाग लेने गए तब राजकन्या को सुहाग नहीं मिला। थोड़ी थोड़ी देर ठहर ठहर कर वह तीनबार गई, पर किसी बार भी मनोकामना की सिद्धि नहीं हुई। अन्त में कुशा गई उसे पहली ही बार सुहाग

मिल गया। भवानी के कोप का कारण न जानकर राजकुमारी बहुत दुःखित हुई। ऋषभ भी चिन्ता में पड़ा कि यह क्यों ऐसा हुआ? देवी ने क्यों कुशा का पक्षपात किया?

ये लोग इसी चिंता में निमग्न थे कि ऋषभ देव के गुरु वोपदेवजी उसे खोजते हुए आगए। गुरुवर्य्य को देखकर ऋषभ दौड़कर चरणों पर पड़ा और थरथर काँपने लगा। विरा और कुशा ने भी आकर अञ्चल-सहित प्रणाम किया। वोपदेवजी दर्भासन पर चुपचाप बैठगए और पैनी दृष्टिसे सब की ओर देखते रहे फिर उन्होंने समाचार पूछा। ऋषभने डरते डरते कहा,—"आप अन्तर्य्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, बिना कहे ही सब जानते हैं। मनुष्य कुछ सोचता है और भवितव्यता कुछ और ही कराती है। जीव परतन्त्र है, क्या करे। सो कृपानिधान! मुझे दैव ने बलात् इस कीचड़ में ढकेल दिया।"

वोपदेव—"बेटा! तू ऐसी बात क्यों कहता है? काल, कर्म और स्वभाव की मैत्री से भवितव्यता घटित होती है। यदि गुण-स्वभाव का आश्रय न मिले तो काल-कर्म का बिगाड़ा कुछ नहीं बिगड़ सकता। इसी लिए तो भवितव्यता काल-कर्म की प्रेरणासे पहले बुद्धि ही को भ्रष्ट करती है ताकि गुण-स्वभाव में परिवर्तन हो जाय। यदि भगवत्कृपा से बुद्धि ठिकाने रही तो प्रारब्धकर्म्मों का भोग भी अनिष्टकारी नहीं होता। यह भी मैंने तुमको सुझा दिया था कि भगवत् अन्तःकरण में बैठे हुए,

कर्मों का भोग देखते हुए भक्त का बांह पकड़कर तभी तक अधोगति से रोकते हैं जबतक भक्त भगवदाश्रय छोड़कर मोहिनी माया की ओर कपट का परदा डालकर नहीं झुकता। भाव यह कि जब तक भक्त भगवान् से निष्कपट रहता है तब तक भक्तभावन भगवान् भक्त की रक्षा किया ही करते हैं। तूने भगवदाश्रय छोड़ दिया, गुरु को भी भूल गया, तब तेरी ऐसी दशा क्यों न हो? जब धिरा और कुशा प्रारब्धवश तेरी ओर आकर्षित हुई तब तूने इनकी परीक्षा की ठानी। क्या इससे तेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं प्रकट होती? क्या इस समय तूने मुझे या अपने इष्ट का आह्वान किया था? यदि नहीं, तो क्या तूने काम के प्रविष्ट होने के लिए हृदय का द्वार नहीं खोल लिया? ऊपर से इतना ज्ञान छांटता था और भीतर यह हाल! कहीं अपवित्रता का भाण्डार किसी कामिनी के साथ पवित्र प्रेमका निर्वाह हुआ है? फिर जब बलबस्त ने भागवत धर्म्म के उज्ज्वल संस्कार के कारण तेरे जन्मान्तर का रूपक खींचा तब क्या तू अभिमानसे नहीं फूल उठा था? तूने बिना किसी ननु-नच के उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तुझे इतना भी नहीं मालूम हुआ कि तेरे हृदय-मन्दिर में गुप्तद्वार से पैठ कर मान-मात्सर्य्य आदि ने काम को सिंहासन पर बैठाकर अभिषिक्त कर दिया है। यदि तुझे मालूम होता तो तू अवश्य अपने इष्ट-गुरु को याद करता। सुन, मैं वह गुरु नहीं हूं जो कान फूँककर किनारे हो गए।"

गुरु की कोपयुक्त वाणी सुन कर ऋषभ बिलख बिलख कर रोने लगा। घिरा और कुशा की दशा क्या हुई सो तो ईश्वर ही जाने। शृङ्गार-भावना-रूपिणी राकारजनी का अवसान हुआ और शान्तरसरूपी प्रभात का उदय हुआ।

बोपदेवजी ने मुसकराकर कहा—"अब रोता क्यों है? अब तो कई जन्मों का ठिकाना कर लिया। आप तो गया ही औरों को भी लेता गया। जब यह विषवेलि प्रफुल्लित और फलित होगी तब चख चखकर पछताना और रोना। अभी क्या है अब तक तो किसी तरह रक्षा कर दी गई है जिस में अन्त न बिगड़े।"

आश्वासनयुक्त गुरुवचनों से ऋषभ सावधान हुआ। आंख पोछ कर, हाथ जोड़ कर उसने प्रार्थना की—"भगवन्! छोटों से अपराध होते ही हैं। यदि बड़े न सुधारें तो कैसे बने। सो, दयामय! यह बतलाइये कि इस कर्म का भोग किस जन्म में होगा। प्रत्येक व्यक्ति से निपटने के लिए अलग जन्म धारण करना पड़ेगा या किसी एक ही जन्म में सब का भुकतान हो जायगा। और यह भी कृपापूर्व्वक बतलाइये कि मेरा उद्धार कब और कैसे होगा?"

बोपदेव—"बेटा, तेरे हित के लिए ऐसा ही विधान होगा जिस में एक साथ ही सब का भुकतान हो जाय। भविष्य में तेरा श्वशुर नहपान म्लेच्छकुल में जन्म लेगा। आलमगीर उसका नाम होगा। बड़ा प्रतापी राजा होगा। बलवस्त उसका

पुत्र होगा। उस का नाम मुअज़्ज़म पड़ेगा। राजकुमारी घिरा आलमगीर की पुत्री ज़ेबुन्निसाँ होगी। कुशा ग़यास नामक एक वस्त्रवर्णकार के घर जन्म लेगी। उस का नाम मदीना पड़ेगा। पर कविता के उपनाम के कारण वह शेख़ नाम से प्रसिद्ध होगी। और तू भागवतधर्म के पुण्य के प्रभाव से विप्रकुल में उत्पन्न होगा। तेरा नाम माखनलाल रक्खा जायगा परन्तु शेख़ के प्रेम में फंस कर तू पतित हो जायगा और अपने मन से अपना नाम आलम रक्खेगा और निज रचित छंदों में इसी का प्रयोग करेगा। इस प्रकार सब का भुक्तान एक साथ हो हो जायगा। अब रही तेरे उद्धार की बात। सो इसी जन्म के बाद तू शीतलदास नाम से फिर विप्रकुल में जन्म लेगा और भागवतधर्म का आश्रय लेगा और भगवत्-गुण-कीर्तन से तेरी गति हो जायगी, और सुन—राजकुमारी घिरा पूर्वजन्म की तेरी विमाता है। वह उस जन्म में ही तुझ पर आसक्त हो गई थी। इसी कारण तेरे साथ उसका विवाह हुआ है। पर देवी यह जानती हैं कि वह तेरी विमाता है इसी लिए उसे सुहाग नहीं मिला। और कुशा तेरी पहले की पत्नी है अतः महामाया ने उसे सुहाग प्रदान किया है। पर वह थोड़ी देर के बाद मर जायगी। उसकी क्रिया कर देना। घिरा के साथ मातृवत् प्रेम करना। बस अब मैं जाता हूं।"

उचित उपदेश देकर बोपदेव जी अन्तर्हित हो गए

ऋषभ उन दोनों नायिकाओं के साथ महल को लौटा। किसी को रहस्य की बातें नहीं बताईं। उसी दिन शूल के उपद्रव के कारण कुशा का शरीरांत हो गया। सब संकोच त्याग कर ऋषभ ने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की। अनंतर राज्यसुख भोगते हुए भी धिरा के साथ मातृवत् प्रेम रखकर उसने अपने गुरु का वचन पालन किया। पर जीवन भर पछताता रहा और एकांत में बैठ कर भगवत् से यही कहता रहा—

भील कब करी थी भलाई जिब आप जान
फील हुआ कब था मुरीद कहु किस का ?
गीध कब ज्ञान की किताब का किनारा छुआ
व्याध और बधिक निसाफ कहु तिसका ?
नाग कब माला लैके बंदगी करी थी बैठ
मुझ को भी लगा था अजामिल का हिसका ?
एते बदराहों की बदी करी थी माफ
जन मलूक अजाती पर एती करी रिसका ?

—"समन्त"

चँबेली की एक कली

१
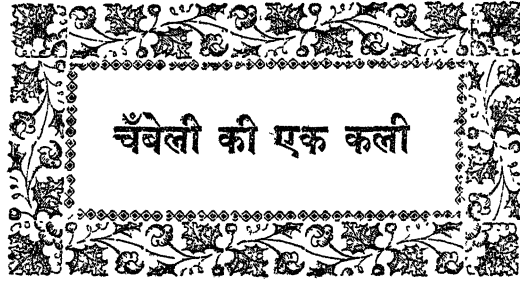
धर्मराज युधिष्ठिर के वंश का अन्तिम राजा क्षेमकर एक बार अपने उद्यान में टहल रहा था। साथ में सामन्त मित्र भी था। राजा भिन्न भिन्न पुष्पों की सुगन्ध का वर्णन करता जाता था। सब सुन कर सामन्त ने कहा—"राजन्! आपके इस सुविस्तृत उद्यान में पुष्पवृक्षों का बहुत अच्छा संग्रह है सही, पर ब्रह्म-गिरि पर जा चमेली की एक कली है उसकी सुगन्ध के सामने सब तुच्छ हैं। वह बहुत से रोगों की दवा है। एक बार वहां चलकर उसे देखने से आप स्वयं उसकी प्रशंसा करने लगेंगे।"

क्षेमकर—"क्या तुमने उसे अपनी आंखों से देखा है या लोगों के कहने-सुनने में आ गए हो?"

सित्र—"मैं वहाँ गया था और केवल इसलिए गया था कि मेरे मस्तिष्क का विकार दूर हो जाय। मेरा रोग तो जाते ही दूर हो गया पर मैं वहाँ महीनों ठहरा रहा। बड़ा ही रमणीक स्थान है।"

क्षेमकर—"तो उसका कुछ वर्णन करो।"

सित्र—"महाराज! एक तो वह अकेला पुष्पवृक्ष बहुत ऊँचे पर है, आकार-प्रकार में बहुत छोटा है। पृथ्वी से केवल पन्द्रह अंगुल ही ऊँचा है। उसमें एक ही कली है। पर न तो वह खिलती है और न मुरझा कर गिर ही जाती है। उसमें कभी भी कोई दूसरी कली नहीं लगी और न इस समय है। उसकी सुगन्ध कोसों फैली हुई है। एक मणिधर सर्प उसकी रक्षा करता है। उसके भय से कोई भी उसके समीप नहीं जाता। उन्माद, जीर्णज्वर आदि घातक रोगों से पीड़ित रोगी उसकी सुगन्ध मात्र से स्वस्थ हो जाते हैं।"

क्षेमकर—"क्या और कोई पुष्प-वृक्ष वहाँ नहीं है?"

सित्र—"जी, नहीं। बहुत दूर पर एक चम्पककुञ्ज है, पर उसमें सामान्य गन्ध के अतिरिक्त कुछ विशेषता नहीं है। वहाँ सब लोग आ-जा सकते हैं। मैं भी कई वार वहाँ गया और पहरों घूमता रहा। पर मुझे उनकी सुगन्ध रुचिकर न हुई।

क्षेमकर—"मित्र जी ! मैं वहाँ चलूँगा और तुम्हें भी साथ ले चलूँगा। किसी युक्ति से सर्प को मार कर उस वृक्ष को उखाड़ लाऊँगा और अपने इसी उद्यान में लगा दूंगा।"

मित्र—"महाराज ! भूल कर भी ऐसा विचार मन में न लाइए। जो इस इरादे से वहाँ गया है उसकी मृत्यु हो गई है। जैसे आप राजाओं के राजा हैं वैसे ही वह सर्पों का राजा है, उसका वध करना असम्भव है। ब्रह्मगिरि पर उसकी जब पूजा होती है तब वह दृश्य देखने योग्य होता है। मैंने भी एक दिन नागराज की पूजा की थी। सोमवार का दिन था। उसी दिन पूजा हुआ करती है। प्रातःकाल मैंने धुस्स पर खड़े हो कर प्रार्थना की—'भगवन् ! मैं आज अपराह्न में आपकी सपरिवार पूजा करना चाहता हूं। मांत्रिक के द्वारा बुलाए जाने पर अवश्य पधारें।' तीसरे पहर मिट्टी के कटोरों में दूध-लावा रक्खा गया। मांत्रिक ने पनस के पत्तों को जोड़कर गोबर की अनन्त भगवान् की मूर्त्ति बनाई। अक्षत, चन्दन, पुष्प आदि से अर्चन-वन्दन कर के उसने शाबर मंत्र का उच्चारण किया। डेढ़ दो दण्ड पीछे बड़ा ही सुन्दर मणिधर नाग एक दूसरे नाग पर सवार आया। उसके पीछे बहुत से नाग थे। उनके बैठने के लिए आसन सजा हुआ था। जब नागराज अपने आसन पर सवारी पर से उतर कर बैठ गया तब और सर्प भी अपने अपने आसन पर बैठे। फिर मांत्रिक की प्रार्थना पर

नागराज ने दूध-लावा का आतिथ्य स्वीकार किया। जब वह दूध पीने लगा तब अन्य नाग भी पीने लगे। इस प्रकार भोजन करके जब वे सन्तुष्ट हुए तब मांत्रिक ने उन्हें प्रणाम करके अपने अपने स्थान को जाने के लिए प्रार्थना की। फिर जिस प्रकार वे आये थे उसी तरह चले गए।"

क्षेमकर—"अच्छा, ऐसी बात है तो मैं केवल दर्शन के निमित्त चलूँगा, तैयारी करो, मैं शुभ मुहूर्त्त देखकर शीघ्र वहाँ जाने का विचार करता हूं। एक ही बात की मुझे आशङ्का है कि मेरे एक पूर्वज ने सर्पसत्र करके इस जाति का नाश कर डाला था; कहीं नागराज मुझे उनका वंशज समझ कर कुपित न हो जायँ।"

मित्र—"शिव! शिव! ऐसी आशङ्का है! आर्यधर्मावतार! आप के पूर्वज और उनके पूर्वज अपनी कीर्ति-अपकीर्ति अपने अपने साथ लेते गए, अपने वंशधरों के लिए कुछ छोड़ नहीं गए। मैं तो समझता हूं कि नागराज के मन में यह बात आएगी ही नहीं। आप चलिए, मैं भी साथ साथ चलूँगा। उस अद्भुत दृश्य को देख तो आइए। और कुछ नहीं तो आप का हृद्रोग ही दूर हो जायगा।"

क्षेमकर—"हां, हां चलो कल ही चलें।"

मित्र—"नहीं, नहीं, इतनी जल्दी क्या है। शुभ मुहूर्त्त पर चलिए।"

क्षेमकर—"अच्छा।"

२

परीक्षितनगर के बाहर आक्रीड़ के उत्तर सुविस्तृत मैदान में पाण्डवेन्द्र महाराजाधिराज क्षेमकर का दरबार लगा हुआ है। धर्म्माचार्य यतीन्द्र उपमन्यु जगद्गुरु के आसन पर विराजमान हैं। मंत्रिमंडल, सामन्त-मण्डल तथा पारद, खस शक, बर्बर आदि जातियों के प्रतिनिधि भी उपस्थित हैं। राजधानी के निवासी नर-नारी सब एकत्रित हैं। राज-सिंहासन पर आसीन महाराजाधिराज क्षेमकर ने कहा—"सज्जनो, आज अन्तिम दर्शन है। नीलाकाश के नीचे यह पृथ्वी ऐसी ही बनी रहेगी। सरिताएं इसी तरह बहती रहेंगी; सूर्य और चन्द्रमा भी इसी तरह प्रकाश और जीवन दान किया करेंगे। सब कुछ ऐसा ही रहेगा पर मैं न रहूंगा। आज से शुद्ध क्षत्रियवंश का अन्त है। मैंने किसी राजकुमारी का पाणिग्रहण इस लिये नहीं किया कि मेरे सेवा-धर्म्म में बाधा पहुंचेगी। मैं प्रजा का सेवक हूं, प्रजा-रञ्जन ही मेरा स्वाभाविक धर्म्म है। इसीलिए मैं जीता रहा। पर अब इस जीवन का एक प्रकार से अन्त ही समझिए। हृद्रोग मेरा प्राणान्त किए बिना नहीं रहेगा। मैं ब्रह्मगिरि पर जाता हूं। सुनते हैं कि वहाँ चमेली की कली के प्रभाव से ऐसे रोग दूर हो जाते हैं। यदि यह रोग दूर भी हो गया तो मैं गङ्गातट का आश्रय लूंगा, फिर लौट कर यहाँ नहीं आऊँगा।

इसलिए मैं राज्य की व्यवस्था कर देना और आपकी सेवा में अपने अनुभव की कुछ बातें निवेदन कर देना बहुत आवश्यक समझता हूं। इसी हेतु से यह विराट् आयोजन है। प्रार्थना यही है कि कृपापूर्व्वक अपने सच्चे सेवक की विनती साग्रह और सहर्ष सुन कर हृदय में स्थान देंगे।

सुनिए। आज से सार्वभौम साम्राज्य का अन्त हो जायगा। क्योंकि अब से योगी नहीं, योग-भ्रष्ट राजकुल-तिलक होंगे। उनका आसन प्रजा के हृदय में न होकर पीठ पर होगा। वे विषय-सुख को ही सर्वोपरि समझेंगे और अपनी इन्द्रियों के स्वामी न होकर दास होंगे। कूट-नीति में ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होगी। वे छलकपट का व्यवहार करेंगे। सारांश यह है कि आसुरी वृत्ति ही उनमें प्रधान रहेगी। वे प्रजा के सुख के लिए न जी कर अपने सुख के लिए जीएंगे। अस्तु, ऐसी दशा में, जब आध्यात्मिक शासन का पराभव हो रहा है, भौतिक शासन उपस्थित हो जायगा। अतएव मैं यही उचित समझता हूं कि प्रजा शासन की बागडोर अपने हाथ में ग्रहण करे, अपने हिताहित का स्वयं विचार करके प्रजा-संघ द्वारा समूह शक्ति से कार्य करे। क्या कला-कौशल, क्या वाणिज्य-व्यापार, क्या कर्षण और शासन, सब पर प्रजा ही का स्वतः अधिकार रहेगा। राजकुल की प्रतिष्ठा के लिए प्रजा का इतना ही कर्त्तव्य है कि अपनी आयका षोडशांश भूमिकर के रूप में भूपति को प्रदान करें।

हमारे दक्षिण बाहु माण्डलिक नृपतिगण! मैं आज आप को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र करते हुए प्रजा वर्ग को आप के हाथों में सौंपता हूं। मैंने इन्हें बहुत प्यार किया है। 'ईति-भीति' को छोड़ कर इन्हें किसी का भय नहीं रहा है। आशा है कि आप भी इन्हीं की नींद सोयेंगे और जागेंगे। यह बात तभी सम्भव है जब आप अपने को प्रजा का सेवक समझेंगे। अर्थात् जैसा मेरा भाव था वैसा ही व्यवहार करेंगे। राजनीति में विषमता क्षम्य है, पर यह कडुवा फल न तो स्वयं खाना चाहिये और न दूसरों को खिलाना ही चाहिये। आपके सुख-विलास के लिए राजकीय क्षेत्र की आय कुछ कम नहीं है। उसे आप अपने उपभोग में लावें, वह इसी निमित्त है। पर प्रजा से प्राप्त धन को प्रजा-हित-साधनों में ही लगावें। यही विनीत प्रार्थना है। और एक बात। विग्रह और सन्धि के अवसर पर रोष, ईर्ष्या, मद और मोह के वश न होकर प्रजा के धन का उपयोग उचित परिमाण में करें। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कर रूप में प्राप्त धन प्रजावर्ग का शुद्ध रक्त है। उसे पानी की तरह बहाना महापाप है।

"लगाया प्रेम-पौधा आँसुओं से सींच कर हमने।
मेरा जीवन है भाई, आप इस को घास मत समझें॥"

प्यारे पुरजन और इन्द्रप्रस्थ मण्डलान्तर्गत प्रजावर्ग! इतने दिन सेवा कर के आज आपका सेवक विदा होता है।

जो कुछ दुःख किसी प्रकार भी हुआ हो उस के लिये क्षमा करके अपना शासन आप करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। आज से आप ही राज्य के मालिक और सेवक दोनों हैं। आप अपने में से किसी योग्य व्यक्ति को जिसमें स्वभाविक उपकार की वृत्ति हो, जो धर्म्मनिष्ठ हो, इन्द्रियजित हो, तपस्वी हो, धर्मनीति और राजनीति का मर्मज्ञ हो, प्रजापालन में विशेष रुचि रखता हो, जो ईश्वर को छोड़ और किसीसे डरता न हो, जिसका जीवन अव्यवस्थित न हो, जो अघाशी न हो, ऐसे पुरुष को राष्ट्रनायक बनाइए। उसी को मेरा उत्तराधिकारी समझिए। और वेद-मन्त्रों द्वारा अभिषिक्त कीजिए। उसके आचार-व्यवहार को देखते रहिए। कदाचित् वह अपने धर्म से च्युत हो जाय, तो पहले सभा करके उसे समझाइए, जब न माने तब उसे पदच्युत करके दूसरे व्यक्ति को अपना नायक बनाइए। राजसभा का संगठन जैसा चला आता है वैसा ही रहे, यदि आगे चल कर उस में कुछ त्रुटि आ जाय तो उसे भी आप बदल सकते हैं। राजकुल की प्रतिष्ठा के लिए इतना आप अवश्य करेंगे कि जब तक योग्य व्यक्ति मिल सकें उन्हीं में से राष्ट्रनायक का निर्वाचन करेंगे। पर इसका भाव यह नहीं है कि आप में से अन्य योग्य व्यक्तियों को अवसर न दिया जाय। वे लोग उपनायक बनाये जायँ और उनकी प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य का भार

उन पर डाला जाय। यदि आप उचित समझें तो इनके कार्य-काल की अवधि भी निर्धारित कर सकते हैं। अस्तु, मुझे दृढ़ विश्वास है कि आप मेरे बताए हुए मार्ग का अनुसरण करने के लिए तैयार हो जायँगे। वर्णाश्रम-धर्म्म रूपी सुदृढ़ प्राचीर के अन्तर्गत स्थिर जातीय दुर्ग की रक्षा समता, सन्तोष, दया और विवेकरूपिणी चतुरङ्गिणी-सेना के द्वारा करते रहेंगे और गौ-ब्राह्मण, साधु और सती की पुकार पर सदा कान दिये रहेंगे।"

महाराजाधिराज क्षेमङ्कर के उपदेश को सुन कर सभा स्तब्ध हो गई। राजा से रंक तक सबके नेत्रों में जल छलछला आया, सन्नाटा छागया। केवल सिसकियां भरने की ध्वनि सुनाई देती थीं। स्नेहविह्वल यवन-नरेश ऐंटियोकसने सामने आकर, पांच बार झुककर बन्दना करके हाथ जोड़ कर कहा—"प्रजारक्षक, पृथ्वीपति, अनेक-विरुदावली-विराजमान! आप सार्वभौम साम्राज्य का अन्त करके जाते हैं, यह ठीक नहीं, आप हमें औरस उत्तराधिकारी देकर जाइये। आप किसी राजकन्या से विवाह करें, हम सबके भाग्य से आप ही के सामान आपको पुत्र होगा, उसे गद्दी पर बिठाकर आप बन को चले जांय तब हमें कोई अधिकार रोकने का नहीं है। पर सोचिए तो आप क्या कर रहे हैं? आप सार्वभौम एक छत्र साम्राज्य का अन्त कर रहे हैं, अब माण्डलिक राज्य

स्वतन्त्र होकर आपस में लड़ने लगेंगे, आपकी प्यारी प्रजा पर अत्याचार होने लगेगा, सब लोग मनमानी करने लगेंगे, निरंकुश शासन की प्रधानता हो जायगी। इसीलिए मैं आग्रह-पूर्व्वक प्रार्थना करता हूं कि आप विवाह करें और पुत्रोत्पत्ति के अनन्तर वन को जायँ।"

सम्राट् ने राजसिंहासन से उतर कर राजा ऐंटिओकस को हृदयसे लगाया। और कहा—"भाई! अब मुझे आज्ञा दो, रोको मत। जो कुछ तुम कहते हो, मैं सब समझता हूँ, पर क्या करूँ। कठिन रोग ने मुझे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया है। सब लोग जानते हैं कि मैं पुस्तकें लिख कर उसी की आय से रोटी खाता हूं, प्रजा के धन को छूता तक नहीं, सो अब हृद्रोग के कारण मैं कुछ देर एक जगह बैठ कर लिख पढ़ नहीं सकता, तब विवश होकर मुझे प्रजा का अन्न खाना पड़ेगा। अपनी प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ेगी। हां ब्रह्मगिरि पर जाता हूं, यदि रोग छूट गया और कोई अन्य बाधा उपस्थित नहीं हुई, तो आप लोगों की सेवा में लौट आऊँगा। नहीं तो जो कुछ मैंने निवेदन किया है उसी के अनुसार......" कहते कहते सम्राट् यवन नृपति के गले में लिपट गए।

ऐंटिओकसने कहा—'राजन्! आपका यही त्याग तो दुराचारी को सदाचारी बनाता था, आपके सामन्तों और माण्डलिक नरेशों को अत्याचार करने एवं निरंकुश बनने

से रोकता था। हाय ! हाय !! आज से आध्यात्मिक रीति से, आत्मिक बल से शासन करने का युग समाप्त हुआ। हाय, अब हमें अपने चरित से शिक्षा-देनेवाला सम्राट्, सब के मनको अपनी मुट्ठी में रखनेवाला राजराजेश्वर कहां मिलेगा ?"

सम्राट् के नेत्रों में आंसू भर आए और वह चुपके से राज-सभा के बाहर हो गया और अश्वारूढ़ होकर सामन्त सिन्न के साथ ब्रह्मगिरि के लिए रवाना हो गया।

लोग बड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे। जब सम्राट् नहीं लौटे तब सबने यही निश्चय किया कि जब तक सम्राट् रोग-मुक्त होकर नहीं आते तब तक जैसे चलता है वैसे चलता रहे।

६
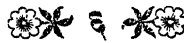
जिस रात को महाराज क्षेमकर ब्रह्मगिरि पर पहुँचे उसी रात में चमेली की कली दक्षिणानिल के प्रथम स्पर्श से ही खिल गई और इतनी सुगन्ध निस्सृत हुई कि वायु-मण्डल भर गया। दूसरे ही दिन राजा का हृद्रोग जाता रहा और वह प्रातःकाल घोड़े पर उस पुष्प विशेष के दर्शन के निमित्त गया। मित्र सिन्न भी उसके साथ था। झुण्ड के झुण्ड सर्प स्वतन्त्रतापूर्वक वहां विचर रहे थे और वृक्ष के पास विकसित कली के ऊपर छत्रवत् फन काढ़े नागराज दीख पड़े। इस भयंकर दृश्य को देख कर सम्राट् ने सामन्त से

कहा—"तुम किनारे यहीं खड़े रहो, मैं ऊपर जाता हूँ। यदि सर्प मुझे डस भी लेंगे तो कुछ परवा नहीं। मैं इसी के लिए आया हूं।" यह कह कर क्षेमकर ऊपर चढ़ गए। सामन्त एक टक देखता ही रह गया।

सप्तद्वीपेश पाण्डवेन्द्र क्षेमकर स्वभावसे ही निर्भीक थे। बिना आगा-पीछा सोचे धड़धड़ाते हुए चले गए। सर्पगण महाराजके लिए मार्ग छोड़ते गए। यहां तक कि वे वृक्षके पास जब पहुँचे तब फणीश ने भी शिर झुकाया और दूर हट गया। राज-राजेश्वर की दृष्टि पुष्प पर गड़ी हुई थी। उसने उस सौरभ-सम्पन्न पुष्प को भरपूर देखा, अच्छी तरह देखा। देखने से तृप्ति नहीं होती थी। फिर मन में आया कि "इस पुष्पको तोड़ लें और डेरे पर ले चलें। देखें, फिर कोई कली निकलती है या नहीं। पर नागराज यदि रुष्ट हो गए तब! तब क्या करेंगे, डस ही न लेंगे। कुछ चिन्ताकी बात नहीं। परिणाम चाहे जो कुछ हो, इस पुष्प को तोड़ना चाहिए।" इस प्रकार निश्चय करके उसने अपना हाथ बढ़ाया और पुष्पको तोड़ लिया। पर, तुरन्त ही दूसरा फूल उसमें लग गया। यह देखकर वह विस्मित हुआ और फिर उस फूल को तोड़ लिया। पर फिर दूसरा पुष्प उसमें लग गया। इस तरह उसने गिनकर एक सौ आठ फूल तोड़े, पर वृक्ष पुष्पशून्य न हुआ। आश्चर्य यह था कि विकसित फूल की जगह वैसा ही

खिला हुआ फूल ही लगता था, कली नहीं। चकित और स्थिर दृष्टि से वह उस अद्भुत वृक्ष और उसमें खिले हुए एकमात्र पुष्पको कुछ देर तक निहारता रहा, फिर तोड़े हुए पुष्पों को लेकर लौटा और अपने मित्र सिंह को लेकर बातें करता हुआ डेरेपर आया। दोनों मित्रों ने मिलकर, स्नान-ध्यान, भोजन-विश्राम से निवृत्त होकर, उन अष्टोत्तर शत पुष्पों की एक माला तैयार की। सन्ध्या हो चुकी थी और चन्द्रोदय भी हो चुका था। सिंह की इच्छा थी कि नागराज का पूजन करके उन्हें ही यह हार अर्पण किया जाय। पर सम्राट् क्षेमकर उसे पुष्प-वृक्ष ही पर चढ़ा देना चाहते थे। दोनों मित्रों में इसपर विवाद चल रहा था। इतने में एक बुढ़िया लकड़ी टेकती हुई आई और उसने चिल्लाकर कहा,—"मेरी झोंपड़ी क्या हुई? मुझे सूझता नहीं, कोई रामका दुलारा दया करके मुझे झोंपड़ी में पहुंचा देता।"

बुढ़िया के आर्त्तस्वर को सुनकर सम्राट् की स्वाभाविक वृत्ति उदय हो गई। किसी अबला का क्रन्दन सुनकर कोई क्षत्रिय कैसे धीर रह सकता है? वे तुरत उठ खड़े हुए और वृद्धा के पास चले गए। सामन्त, इच्छा न रहने पर भी उसके साथ जाने के लिए विवश हुआ। पर क्षेमकरने उसे वहीं रहनें की आज्ञा दी और स्वयं अकेले गये। एक हाथ में गजरा और एक हाथ में तलवार लिए हुए वे बुढ़िया के पीछे पीछे

चले गए। निर्जन मैदान में एक वृक्ष के नीचे वह अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी में घुस गई। छत्रपति ने कहा—"बूढ़ी माता! अब तुम अपनी कुटी में पहुंच गई, मैं लौट जाता हूं।"

वृद्धा—"नहीं नहीं, बेटा! भीतर चले आओ।"

सम्राट् ने भीतर जाकर जो दृश्य देखा उसने उन्हें विस्मित कर दिया। न बुढ़िया का पता और न झोंपड़ी का। वहां तो सुन्दर उद्यान में एक किशोरी रमणी हाथ में एक कटोरा दूध और झारी में पानी लिए खड़ी थी। छिटकी हुई चांदनी में उसका सौन्दर्य निखर रहा था। उस छवि पर राजा का मन न्योछावर हो गया। सुन्दरी ने बड़े भाव से आतिथ्य की सामग्री सामने रखदी और ग्रहण करने की प्रार्थना करती हुई वह अलग खड़ी होगई।

क्षेमकर की दृष्टि उसकी छविपर एकटक लगी हुई थी। उसे कुछ सोचने-समझने का अवकाश ही नहीं था। पर ज्योंही उस रमणी ने क्षीर ग्रहण करने की प्रार्थना दुबारा की त्योंही बिना कुछ विचारे क्षेमकर ने अपने हाथ का गजरा उसके गले में डाल दिया। और मनही मन कहने लगा—"अहो! यह अपूर्व सुन्दरी यहां कैसे आ गई? वृद्धा और उसकी झोंपड़ी क्या हुई? इस ललना ने मेरे मनको हर लिया। कैसे हर लिया? इतनी अवस्था हुई आज तक मेरा मन किसी भी रमणी के रूप का गाहक नहीं हुआ, फिर कैसे

यह एकाएक बहक गया ? कुछ कारण समझ में नहीं आता। मैंने किसी स्त्री से सम्भाषण नहीं किया। सो इस एकान्त कुञ्ज में इससे बातें करने के लिए मनमें सैकड़ों स्पन्दन हो रहे हैं। और मेरी बेसमझी ऐसी कि गजरा बिना संकोच के उसके गले में पहना दिया। ये सब मेरे स्वभाव के विरुद्ध बातें क्यों हो रही हैं ?" इस प्रकार विचारते हुए उसने वहीं बैठकर दुग्धपान किया। फिर क्या था ! कामरस नस नस में भर गया। शरीर की प्रौढ़ावस्था नव्य किशोरावस्था में परिवर्तित हो गई। संयम-नियम की वृत्ति बदलकर चपलता में ढल गई। उसने कहा—"आपके उपहार से मैं सन्तुष्ट हुआ। पर आपका परिचय जाने बिना चित्त व्यग्र है। क्या अपनी सुधामयी वाणी से इस व्यग्रता को नहीं दूर करेंगी ? मुझे बड़ा ही कुतूहल हो रहा है। अपना पूर्ण परिचय दीजिए। स्पष्ट कहिए, कि आप कौन हैं ? जो वृद्धा मुझे यहाँ लिवालाई थी वह झोपड़ी-समेत क्या हुई ?"

उस रमणी ने कहा—"आपको मालूम नहीं कि मैं कौन हूं ? अब भी आप नहीं समझ सके ! अच्छा, सुनिए, इस दृश्य की नटी, इस आश्चर्य-लीला की विधात्री मैं ही हूं। आप इन्द्रजाल में फँस गए हैं, अब किसी तरह इससे निकल नहीं सकते। कहिए, अब समझा ?"

क्षेमकर—"हाँ, समझा। पर इस निरपराध व्यक्ति को आपने क्यों इस जाल में फँसाया ?"

रमणी—"चमेली के फूल तोड़े या नहीं ! बस, यही अपराध है।"

क्षेमकर—"ठीक है। अपराध अवश्य हुआ, पर क्या आप के दरबार में क्षमा के लिए स्थान नहीं है ?"

रमणी—"है क्यों नहीं, प अपराध अक्षम्य है, प्राण दण्ड ही इसके लिए उचित विधान है। हाँ, आप महाराज युधिष्ठिर के वंशज हैं और छत्रपति नृपति हैं, इसलिए कड़ाई से नहीं, नरमी के साथ आप को दण्ड देने का निश्चय किया गया है। पहला दण्ड तो यह है कि आपको भूलोक छोड़ देना होगा और अमरावतीका भी त्याग करना होगा। दूसरा दण्ड यह है कि आपको पाँच वार चलितलोचना देवी को साष्टाङ्ग प्रणाम करना होगा, क्योंकि आपने स्त्री जाति का बड़ा अपमान किया है। आशा है कि आप सब बातें समझकर मनको कड़ा कर लेंगे।"

क्षेमकर—"अच्छा, जो दण्ड मिलेगा उसे भुगत लेंगे। इस समय यह बतलाए कि 'चलित-लोचना' देवी कौन हैं जिन्हें मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करना होगा ?"

रमणी—"बात तो बताने योग्य नहीं है, पर देखती हूं कि बिना बताए भी काम नहीं चल सकता। अच्छा, सावधानतापूर्वक सुनिए, संक्षेप से सारी कथा कहती हूं।"

"हेमाद्रिपर महर्षि बादरायण के शिष्य बौधायन ऋषि का आश्रम था। ऋषिने महाप्रस्थान के समय कमलाक्ष नामक एक युवक तपस्वी को आश्रम का अधिष्ठाता बनाया। वे वहाँ रहने लगे और तपरूपी धन का सञ्चय करने लगे। तपके प्रभाव से उनका रूपवान् शरीर और भी दिव्य हो गया और देवलोक की ललनाएं आकर्षित होकर आने लगीं। पर तपस्वी ने किसी की ओर दृष्टिपात नहीं किया। निराश होकर सब लौट गईं परन्तु नागलोक की विभूति 'चलित-लोचनादेवी' उस तपस्वी कुमार पर ऐसी आसक्त हुई कि वह उसके सामने से टलती ही नहीं थी। मुनि ने अपने को बहुत संभाला पर अन्त में क्रोध की वृत्ति ने उदय होकर उसके तपरूपी धन को नष्ट कर दिया। तपस्वी ने झुंझला कर उस देवी को स्थावर योनि में पतित होने का शाप दे दिया। भोगवती में हाहाकार मच गया। सब लोग बहुत दुःखी हुए। उसके पिता नागराज श्रावस्की के शोकका वारापार नहीं था। क्योंकि वे अपनी एकमात्र कन्या को बहुत प्यार करते थे। पर अब क्या होता? जो होना था सो तो हो ही चुका। काल पाकर वही चलितलोचना ब्रह्मगिरि पर चमेली के रूप में उत्पन्न हुई और आप वे ही कमलाक्ष तपस्वी हैं जो तप के प्रभाव से राजकुलतिलक हुए हैं। यही उस अबला की करुण कथा है। अब उसके उद्धार का समय आगया है। शाण्डिल्य

साथ ऋषि शाण्डिल्य के दर्शन हुए। ऋषि को राजा ने बड़े प्रेम से प्रणाम किया। शाण्डिल्यजी ने आशीर्वाद देकर अपने दहिने पैर के अंगूठे से उस वृक्ष के मूल को स्पर्श किया। उसी समय एक अत्यन्त रूपवती कन्या प्रकट होगई। राजा उस छवि को देखते ही मूर्च्छित हो गिर पड़ा। मुनि ने उसे सावधान किया और अपने करकमलों से चलितलोचना का हाथ क्षेमकर को थमा दिया। और उन्हें भोगवती का सुख चिरकाल तक भोगने का आशीष् देकर आकाशमार्ग से चले गए।

फिर नागराज क्षेमकर को नागलोक में लिवा ले गए और वहां विधिपूर्वक दोनों का विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ। चलित-लोचना की सखी मधुरा ने हंस कर कहा—"अब पांच बार मेरी सखी के चरणों में प्रणाम कीजिए तब विहारकुञ्ज में प्रवेश करने दूंगी।" क्षेमकर ने इस प्रेम हठ को स्वीकार करके ज्योंही शिर झुकाया कि चलित-लोचना चरणों पर गिर पड़ी और राजराजेश्वर ने उसे उठा कर अंक में लगा लिया।

—"समन्त।"

मुदिता

१

दक्षिण भारत के पाण्डुरङ्ग नगर में पं० रामेश्वर पराडकर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण थे। सरस्वती के साथ ये, लक्ष्मी के भी पूर्ण कृपापात्र थे। बड़े भाग्य से ये दोनों विभूतियाँ एक साथ प्राप्त होती हैं : यदि कोई ऐसा भाग्यभाजन हुआ भी तो वह पुत्र के लिए कलपता है। संयोग से पुत्र भी हुआ तो उस का सुयोग्य होना बहुत दुर्लभ है। पर भगवान् ने रामेश्वर पराडकर के भाग्य को सब तरह से पूर्ण किया था। उन्हें एक बड़ा ही अपूर्व पुत्र हुआ। जब वह केवल एक वर्ष का था, तभी उस की वाणी खुल गई और वह अपने माता-पिता को पुकारने और पहचानने लग गया। जब उसके पिता विष्णुसहस्र नाम और भगवद्गीता आदि भागवत ग्रंथों का पाठ करते तब शिशु बलवन्त उनके पास चला जाता और ध्यानपूर्वक सुनता। उसकी

धारणाशक्ति ऐसी उन्नत थी कि जो कुछ वह एक बार सुन लेता वह वज्रलेख हो जाता। उसने उनके सम्पूर्ण पाठ्य ग्रंथ उसी अल्प वयस् में ही कण्ठस्थ कर लिए। जब वह पांच वर्षों का हुआ तब पिता ने उसका विद्यारम्भ कराया। पहले वेदों का स्वाध्याय कराया, फिर व्याकरणादि वेदाङ्ग और मीमांसादि दर्शनों को पढ़ाया। जैसे कोई विस्मृत बातें स्मरण करे वैसे ही उसने बिना परिश्रम के सहज भाव से सारी विद्याएँ प्राप्त करलीं। १०-११ वर्ष में वह प्रकाण्ड पण्डित हो गया। उसकी अपूर्व प्रतिभा और विद्वत्ता की ख्याति चारों ओर फैल गई। बड़े बड़े पण्डित शास्त्र-चिन्ता के लिए उसके पास आते और वह वयोवृद्ध पण्डितों में, ऋषिमण्डली में शुकवत सुशोभित होता। उसका विषय-निरूपण और सङ्गत उत्तर सुन कर पण्डित गण मुग्ध रह जाते।

एक बार वे पाण्डुरङ्ग भगवान् के मन्दिर में पण्डितों के साथ बैठे सत्सङ्ग कर रहे थे। उसी समय एक बहुत ही रूपवती कन्या अपने पिता के साथ वहां दर्शनों को आई और इस बाल-शास्त्री को देखकर विमोहित हो गई, पाण्डुरङ्ग ने भी उसे चाव से देखा। पिता ने अपनी कन्या के लिए अल्प-वयस् पण्डितश्रेष्ठ को उपयुक्त वर समझा। क्योंकि वह रूप, शील, कुल, धन, और विद्या, सबसे सपन्न था।

पाण्डुरङ्ग स्थान से ५-६ कोसों पर एक जूणा ग्राम था। वहां लक्ष्मण पणशीकर नाम एक ब्राह्मण रहते थे। ये उस जवार में अच्छे वैदिक समझे जाते थे। खाने-पीने से भी खुश थे। यह मुदिता उन्हीं की कन्या थी जो बलवन्त पर मोहित हुई। भगवान् पाण्डुरङ्ग ने अपने दर्शन का फल सद्य ही उसे दे दिया, जिसके लिये कन्याएँ अनेक व्रतानुष्ठान किया करती हैं। कन्याओं के लिए योग्य वर मिलने से बढ़कर कोई लाभ नहीं। सो महाभागा मुदिता को प्राप्त हो गया।

जब लक्ष्मण पणशीकर अपने घर गए तब उन्होंने अपनी भार्या पुष्पिता से परामर्श करके वररक्षा का निश्चय किया। एक शुभ मुहूर्त्त पर वे पाण्डुरङ्ग गए और बलवन्त के पिता रामेश्वर पराडकर से अपना सङ्कल्प प्रकट किया। उन्होंने, सहर्ष इस माङ्गलिक प्रस्ताव का स्वीकार कर लिया। विवाह का दिन भी शीघ्र ही स्थिर हो गया।

२
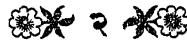
पाण्डुरङ्ग-मन्दिर में सभा लगी हुई थी। पंडित बलवन्त पराडकर का महात्मा सोमेश्वर से शास्त्रवाद हो रहा था। कोटियों पर कोटियां चल रही थीं। विषय था—निवृत्ति मार्ग श्रेय है या प्रवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग का पक्ष महात्मा सोमेश्वर का था और प्रवृत्ति मार्ग का संस्थापन बलवन्त पराडकर कर रहे थे। उनका उत्तर पक्ष आरम्भ था उसी समय दासी

उन्हें विवाह के पूर्व के किसी माङ्गलिक उपचार के लिए बुलाने आईं। वे अपने विवाह के लिए बड़े उत्सुक थे—अभिप्रेता मुदिता अपनी प्राणेश्वरी होगी इससे बढ़कर और क्या आनन्द का विषय होगा। वे तुरत उठकर जाने के लिए तैयार हो गए। उसी समय सोमेश्वर ने रोक कर कहा—"बिना उत्तर दिये कहाँ जाते हो?" बलवन्त रुक गये और फिर शास्त्रार्थ होने लगा। बलवन्त ने कहा—"माता-पिता से सन्तान की उत्पत्ति होती है, यह एक नैसर्गिक प्रमाण है कि प्रवृत्ति-मार्ग ही श्रेय है। यदि प्रवृत्तिमार्ग न होता तो उसका जन्म ही कहाँ से होता। ईश्वर ने स्त्री की सृष्टि की और अन्तः-करण में काम प्रवृत्ति दी है, इससे यह स्पष्ट होता है कि उसे प्रवृत्तिमार्ग ही अभिप्रेत है। अतः वही स्वाभाविक और वास्तविक मार्ग है। उसके बिना त्रिवर्ग की सिद्धि कैसे हो सकती है और उसका त्याग करके संसार की स्थिति कैसे रह सकती है?

सोमेश्वर—जिसे तुम संसार कहते हो वह कर्म्मों का जाल फैला हुआ है। चित्र-विचित्र कर्म्मों से जीव बँधे हुए हैं। उन्हीं के भोग के लिए वे जन्म लेते हैं और अनेक शरीर धारण करते हैं। जबतक उन कर्म्मों का नाश नहीं होता, तबतक जन्म-मरणादि क्लेशों की निवृत्ति नहीं हो सकती और उनसे निवृत्त ही होना परमपुरुषार्थ है। अतः निवृत्तिमार्ग ही श्रेय है।

शान्तिस्वरूप परमसुख का वही साधन है। प्रवृत्तिमार्ग में उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि स्वर्गतक आवागमन का कष्ट बना ही रहता है।

बलवन्त—मान लीजिए यदि निवृत्तिमार्ग का स्वीकार कर लिया जाय तो मनुष्यपर जो देव-पितृ और ऋषि-ऋण हैं इनसे उद्धार कैसे और कब होगा? क्योंकि इनसे मुक्त होने में सम्पूर्ण जीवन लग जाता है। फिर निवृत्ति के लिए समय कहाँ रह जाता है?

सोमेश्वर—माता-पितादि का जो तुम भिन्न भिन्न अस्तित्व मान रहे हो, यह तुम्हारा भ्रम है। वस्तुतः एक ईश्वर ही अनेक रूपों में रम रहा है। उसके वास्तविक रूप में उसके सम्मुख होने से सब ऋण चुक जाते हैं। इससे निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करनेवाले को वह दोष नहीं लगता।

बलवन्त—निवृत्ति अन्तःकरण का धर्म्म है या शरीर का? (अर्थात् यदि हृदय में वैराग्य रखते हुए प्रवृत्ति का सेवन करे तो क्या निवृत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती?)

सोमेश्वर—मन, वचन और कर्म्म, ये भिन्न भिन्न नहीं— वास्तव में ये एक हैं। मनसे जो सोचोगे वही वचन और कर्म्म में आएगा। फिर बिना सङ्ग का त्याग किए विषय का त्याग होता नहीं। अतः सर्वतोभाव से निवृत्तिमार्ग का ही अनुसरण करना श्रेय है।

शुद्धहृदय बलवंत पराडकर ने विहित पक्ष का स्वीकार कर लिया और गुरुभाव से महात्मा सोमेश्वर को प्रणाम किया। उसी समय विवाहसे विरत हो गए और निवृत्ति का सङ्कल्प कर लिया। घर में हाहाकार मच गया। पिता-माता को जो कष्ट हुआ उसका क्या वर्णन हो सकता है। कल जो दूल्हा बनकर विवाह मण्डप की शोभा बढ़ाता वह आज तपस्वी हो कर कंदरा का सेवन करने जा रहा है। जिस शरीर में उबटन और सुगंध लगने को था, उसपर अब भस्म लग रहा है। जो वक्षःस्थल नववधूका सुख-शयन बनता वह अब कण्टकित अक्षमालाका विश्राम बन रहा है। निवृत्तिवधूने उसपर मोहित हो कर अपनी प्रतिद्वंद्विनी प्रवृत्तिवनिता से उस नररत्न को छीन लिया। पितादि ने उसे बहुत समझाया। पर निवृत्ति-नायिका के दूतभूत उस साधुने उसे ऐसा पाठ पढ़ा दिया जो उसके शुद्ध अन्तःपटलपर दिव्याक्षरों में खचित हो गया था। वह किसी तरह धोया नहीं जा सकता था और न खुरच कर मिटाया ही जा सकता था। उस बाल तपस्वी ने कहा—"मैं परास्त हो गया हूं, अब किसी तरह प्रवृत्तिमार्ग को स्वीकार नहीं कर सकता। अब आप लोग इस शरीर की मोह-ममता छोड़ दीजिए।" सब जहाँ के तहाँ अपना हृदय थाम कर रह गए। सत्पुरुषों का सङ्कल्प, निर्विकल्प और अटल होता है।

३
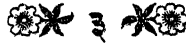
जिस समय मुदिता ने सुना कि उसके मनोनीत भावी पति विरक्त हो गए, उसके हृदयपर वज्र गिर पड़ा-उसकी लहलहाती हुई आशा लता छिन्न-भिन्न हो गई। कुटिल दैव-रूपी करिवर ने उसके सुख-सरोज को अचानक तोड़ लिया। उसने विलखकर कहा-"विधाता! तूने मेरे साथ बड़ा छल किया। हा! तुझे तनिक भी दया नहीं आई। किसी की अभिलाषा पूर्ण होते हुए तुझसे नहीं देखा जाता।" एकाएक उसकी मुखश्री गम्भीर हो गई। उसने अपने विरक्त पति को सम्बोधन करके कहा—"प्राणनाथ! तपस्यावधू ने तुम्हें मोहित कर लिया।-उसका सौभाग्य बढ़े और तुम प्रसन्न रहो। मैं तुम्हारे निवृत्तिसुख में विक्षेप नहीं करूँगी। मेरी अब केवल यही इच्छा है कि तुम्हारे साथ रहूं और आँखों भर तुम्हें, जब तुम्हें उस सौभाग्यवती के अङ्क से विराम हो, देख लिया करूँ। तपस्ये! तू प्रियतम की प्यारी हो, तेरा सौभाग्य बढ़े। मैं तेरे सुख को छीनना नहीं चाहती। मैं तेरी चेरी बनकर रहूँगी। तू मुझे प्रियतम के चरणों में रहने दे।"

बलवंत, पाण्डुरङ्ग नाम से प्रसिद्ध थे। अतः अब हम भी इसी नाम का प्रयोग करेंगे। उनका शिष्य विश्वम्भर गुरु के विवाह न करने से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने गुरु के इच्छानुसार पाण्डुरङ्ग-मंदिर के पास भूमिगर्भ में एक गुफा बनाई।

उसमें वे रहकर भजन करने लगे। मातापिता, सखीसङ्गिनी को छोड़ कर, सब मातामनता तोड़ कर, सांसारिक सुख-विलास से मुख मोड़ कर और केवल पतिपरमेश्वर से सम्बंध जोड़ कर मुदिता अपने प्राणनाथ की गुफा के पास ही कुटी बनाकर रहने लगी। जब पाण्डुरङ्ग गुफा से बाहर निकलते तब वह उन्हें कुछ खाने को देती और स्वयं उनके दर्शनामृत को पान कर तृप्त होती। आर्य कन्याएँ जिसे एक बार स्वप्न में भी प्रेम-दृष्टि से देख लेती हैं फिर भूलकर दूसरी ओर आँख नहीं उठातीं।

जब इस तरह से नवयुवक योगी पाण्डुरङ्ग को तपस्या करते कुछ दिन बीत गए तब एक दिन अचानक योगिराज सोमेश्वर आगए और उनकी गुफा के ऊपर मृगचर्म बिछाकर पड़ रहे। जब रात्रिमें पाण्डुरङ्ग निकले तब योगिराज ने उनसे कहा कि "यह कौन निवृत्ति है कि जन्मभूमि पर टिके हो। केवल संसर्ग-वर्जित हो गए हो और सब वैसा ही है। किसी भी रूप में स्त्री पास है, यह ठीक नहीं। यहां रहने से, परिचित देश और पात्रों को देखने से घूम फिर कर उन्हीं के सम्बन्ध की भावनाएँ उत्पन्न होंगी, उनका स्मरण होता रहेगा। अतः प्रवृत्ति का संपूर्ण संसर्ग और संस्कार त्याग करना आवश्यक है। किंचिन्मात्र भी गृह-परिवार का सम्पर्क योगी के लिए भयङ्कर है—अवसर पाकर वह गुप्त-शत्रु की तरह अपनी ओर

खींच ले जाता है और योगभ्रष्ट कर देता है। अतः सावधान हो जाव और यहां से दूर निकल जाव।"

पाण्डुरङ्ग ने शिर झुका कर कहा—"भगवन्, ऐसा ही होगा, मैं कल यहां से चला जाऊँगा।"

गुरु ने शिष्य को सावधान करके अपना रास्ता लिया। दूसरे दिन पाण्डुरङ्ग समय टाल कर अर्द्धरात्रि में गुफा से निकले, अपने शिष्य विश्वम्भर को साथ लिया और जन्म भूमि की गोद में प्रियतमा को सोती हुई छोड़कर चल पड़े। यह कैसे कहें कि इस निवृत्ति-यात्रा में उन्हें प्राणों से अधिक चाहनेवाली मुदिता की एक बार याद भी न आई हो। क्योंकि यदि किसी के हृदय है और वह सचमुच हृदय है—पत्थर का बना हुआ हृदय का आकार नहीं है—तो प्रकृति के धर्म्म के अनुसार उसे अवश्य ही संयोग-वियोग और उनके सुख दुःख का अनुभव होगा।

४
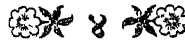
मुदिता की जब नींद टूटी तब वह रात्रि में कई बार बाहर आई और अपने पति देव की आहट ली। पर उनके दर्शन न मिले। दूसरे दिन भी देर तक प्रतीक्षा की। जब उनके बाहर आने का समय निकल गया और वे न दिखलाई दिये तब उसको चिन्ता विशेष रूप से जागृत हो उठी। पति की तप-यात्रा के बाद रात्रि में जब उसकी नींद टूटी थी तब

वह हृदय में एक धड़का लिए हुए उठी। स्वप्न में उस घटना की उसे योगमाया से सूचना मिली थी। पर उसके अदृष्ट ने उसके अन्तःकरण पर एक मोह का ऐसा परदा डाल दिया था जिससे उसे उसकी बिल्कुल धारणा न हो सकी, उसका असर भर हृदय पर घबराहट के रूप में रह गया था जो उस समय विकसित हो उठा।

गुफा में खोजा गया पर वे अब कहां? वे तो न जाने अब तक कहाँ पहुंचे होंगे। लोग हाथ मल कर रह गये।

मुदिता को शैशवावस्था में एक साधु ने प्रसन्न होकर यह वर दिया था कि उसे चालीस कोसों तक की बात अवगत हो जाया करेगी। अतः उसे अनुभव हो गया कि उसके पति कहां हैं।

उसने मन ही मन कहा—"नाथ? इस दासी ने कौन सा अपराध किया था जिससे इस तरह तज दिया। मैंने तो युवतिजन-सुलभ यौवनावस्था की सारी अभिलाषायें मार डालीं। केवल तुम्हारे दर्शनामृत से तृप्त थी। जब तुम्हें देख कर उनमें सजीवता आने लगती थी तब मैं आंखें नीचे कर लिया करती थीं—उन्हें तुम्हारे चरणों में लगा देती थी। तुम्हीं जिसके एक मात्र सर्वस्व हो, जिसे केवल तुम्हारे ही चरणों का अवलम्बन है, जिसे तुम्हारे बिना लोक-परलोक सब सूना है, हा! उस दासी को अनाथ छोड़ कर तुम कहां चले गये? सत्पुरुषों की यह रीति है कि वे अपने अनन्य-जनकी अवश्य सुधि लेते

हैं, अङ्गीकृत और शरणागत की रक्षा करते हैं। तो क्या वैराग्य का ऐसा कोई नियम है जो उस उदार कर्त्तव्य से भी विरत कर देता है। प्रेम हृदय का एक अलौकिक भाव है, आत्मारूपी दुग्ध का नवनीत है, वह परमात्मा का स्वरूप है, वह नित्य नव्य और निर्विकार है, उसकी बड़ी महिमा सुनी है। तो क्या वैराग्य में उसका भी त्याग हो जाता है? मैं तो अब तक उसे फलस्वरूप और साध्य समझती थी परन्तु आज यह भी मालूम हो रहा है कि वैराग्य ही साध्य है और प्रेम एवं शील उसके साधन हैं। पर स्वामिन्! हम प्रेमियों का यह सिद्धांत नहीं। हम तो प्रेम को ही सब कुछ मानती हैं, हमारे सम्प्रदाय का तो वही ध्येय है। सती प्रेमयोगिनियां तो उसीके लिये सारे साधन और देवाराधन करती हैं। दाम्पत्य-भाव उसीके साधन के लिए है। अच्छा, यदि तुम्हें वही अभीष्ट है तो वही ठीक है। तुमने तो मेरा त्याग किया पर मैं तो त्रिकाल में भूल कर भी तुमसे विरत नहीं न हो सकती। हमारी तो एकमात्र, चाहे त्याग करो या संग्रह, तुम्हीं गति हो। हम दीन अबलाओं का यह व्रत क्या प्रस्थान करते हुए एक बार भी तुम्हें स्मरण नहीं आया। दैव! तुमसे विषयसुख-वर्जित मेरा यह तापसिक सौभाग्य भी देखा नहीं गया!"

उस प्रेमवती रमणी ने अपने मनको कड़ा किया और प्रेमयोगिनी बनकर प्रेमपथ पर उतर पड़ी। दिनको दिन और रात को

रात न समझती हुई, देह-गेह की सुध भूलती हुई, केवल प्रियतम की याद रखती हुई, मार्ग में कुटिल कुश-कण्टक और भूख-प्यास को सहती हुई, वह अमरपाली ग्राम में सायङ्काल में पहुंची। इसी स्थान पर कल पाण्डुरङ्ग पराडकर ठहरे थे। और आज प्रातःकाल चले गए। अगर चार पहर पहले वह यहां पहुँची होती तो उससे भेंट हो जाती। पर दैवगति को कोई क्या करे। कर्सिन नाम की एक बुढ़िया वहां रहती थी। उसीके वहां उसके पति ठहरे थे। वह भी उसी के घर उतरी। उसके पूछने पर बुढ़िया ने पाण्डुरङ्ग के ठहरने का सब हाल कहा। मुदिता—भगवान् ने उसका नाम तो मुदिता रक्खा था लेकिन उसे अमुदिता बनाया था। वह पछताकर रह गई। उसने बुढ़िया के पूछने पर अपना सब हाल कह दिया। उस बेचारी को भी दया आई। उसने कहा—"बेटी! भाग्य की बात है। अपना कोई वश नहीं। क्या करोगी! संतोष करो। अगर मेरी बात मानो तो मैं कहूंगी कि तुम यहीं मेरे पास रहो। तुम्हें देखकर बड़ी दया आती है। मेरे भी कोई नहीं है। हम तुम साथ रहेंगी। मेरा जो कुछ है वह तुम्हारा ही है।"

मुदिता बोली—"माई! इस समय उनके खोजने में तुम मेरी सहायता करो। मुझे अगले टिकान तक पहुँचा दो। यदि वह मिल जायँगे तो उन्हें लेकर मैं यहीं तुम्हारे पास रहूंगी।"

अस्तु! मुदिता बुढ़िया के घर रात भर रही। बुढ़िया ने

उसे खिलाया पिलाया और प्रातःकाल उसके साथ चलने का वचन दिया।

५
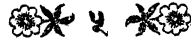
दूसरे दिन प्रातःकाल वृद्धा कर्सिन के साथ प्रेमयोगिनी मुदिता अगले पड़ाव को रवाना हुई। कुछ दूर चलकर कर्सिन थक गई। उसने कहा—"बेटी! मुझ से नहीं चला जायगा। चलो, मैं तुम्हारे साथ आदमी कर देती हूं। वह तुम्हें जा कर पहुँचा आएगा।"

उसने देवधर नामक एक व्यक्ति को उसके साथ कर दिया और वह उसके साथ चली। मार्ग में कहीं जङ्गल, कहीं मैदान और कहीं ग्राम पड़ता था। उसकी सुकोमल देह, मंजु कांति धधकती हुई दोपहरिए की धूप में नितान्त क्लान्त हो रही थी। मुख पर प्रस्वेदबिन्दु झलक रहे थे। इस समय उसकी ऐसी दीन और खिन्न दशा है कि किसी भी कवि को उसकी छवि का वर्णन करना अच्छा नहीं लगेगा। पर उसकी करुणा का अटकल लगाने के लिए इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि वे प्रस्वेद-बिन्दु नहीं हैं किन्तु रोम रोम से वह रो रही है। उसकी अपार करुणा भीतर से उबल कर रोमकूपों को भर रही है। विरहाग्नि से प्रेमजल खौल कर बाष्प बन कर निकल रहा है। यदि करुणा की मूर्त्ति बनाई जाय तो वह ठीक ऐसी ही उतरेगी जैसी कि इस समय

हमारी प्रेमयोगिनी मुदिता है। उसकी इस कारुणिक छवि में भी मूर्ख देवधर शृङ्गार का स्वप्न देखने लगा। उसके मन में पाप बस गया। उसने अपनी कुत्सित इच्छा उस पतिप्राणा, पतिदेवता प्रेमयोगिनी से प्रकट की। वह बेचारी सती-साध्वी सुन कर दहल गई। उसने मन ही मन कहा—"हा भगवन्! इस निस्सहाया अनाथ अबला पर यह विपत्! ऐसी घोर अवस्था में इस निर्जन स्थान में सिवा तुम्हारे और कौन रक्षक है? हे द्रौपदी की लाज के रखैया! यह हतभाग्यश्रेया तुम्हारी शरण में है, बचाओ!" भगवान् पर भरोसा करके उस ब्राह्मणकन्या प्रोषितभर्तृका ने चतुरतापूर्वक कहा—लेकिन यह समय अविहित है। जल्दी क्या है, ठिकाने चलकर रात्रि में हम तुम सुख से विश्राम करेंगे। इस समय चले चलो।"

डीहा नामक ग्रामके किनारे वह ज़रा देर विश्राम करके फिर चल पड़ी। मन में ऐसा होता था कि कैसे उड़कर आगे के ठहरावपर पहुँच जाऊँ। शायद उनसे भेंट हो जाय।

शाम होते होते वह जयछुना ग्राम में पहुँची। वहाँ वह कुशल नामक बनिए के यहाँ ठहरी। यहीं उसके पति भी ठहरे थे। बनिए की लड़की भड्डरी से मुदिता ने अपना सब वृत्तान्त कहा। उसने बड़ी सहानुभूति प्रकट की। उस दुष्ट देवधर की बात भी कही। भड्डरी बोली—"बहन! तुम चिन्ता न करो। तुम तपस्विनी हो, काहे को इसमें पड़ोगी। मैं उस

दुष्ट को उसकी दुर्वृत्ति का फल चखाऊँगी। तुम भोजन बनाओ, खाव। मैं रात्रि में उस कोठरी में पहले से रहूंगी। तुम उसे लेकर उसमें आना। जब वह कोठरी में प्रविष्ट हो जाय तब तुम बाहर निकल कर कुराडी बन्द कर लेना। फिर मैं उस कामुक को दराड दूँगी।" मुदिता को धीरज हुआ।

भद्दुरी ने उसके भोजन का सब प्रबन्ध कर दिया। मुदिता भोजन बनाती थी और वह वहाँ बैठी हुई प्रेम और दयापूर्वक उससे बातें करती थी। जब वह रसोई बना चुकी तब उसे देवधर को परसकर दिया और स्वयं भोजन किया। फिर निर्दिष्ट समयपर वह देवधर को उस काल-कोठरी में ले गई। उसे भीतर करके झट बाहर निकल आई और कुराडी लगा दी। भद्दुरी उसकी काल-रात्रिसी कटार लिए उसमें बैठी थी। ज्यों वह दरवाजे की ओर मुड़ने लगा था, त्योंही उसने चमक कर वह कटार उसके गले में घुड़ोप दिया। वे वहीं चें कर रह गए। सती के ऊपर कुदृष्टि का कटु फल उसे तत्काल ही मिल गया। फिर मुदिता ने कुराडी खोल दी और वह परोपकारिणी वणिक्पुत्री निकल आई। उसके प्रति ब्राह्मणकन्या ने बड़ी कृतज्ञता प्रकट की और भगवान् को धन्यवाद दिया। और मनही मन कहा—"धर्म्म! तू भगवत्स्वरूप है, तू स्वयं अपनी रक्षा कर लेता है। जो जितनी तेरी सेवा करता है उसका उतना ही तू सहायक होता है।"

प्रातःकाल मुदिता ने दूसरे मंज़िल के लिए प्रस्थान किया। भङ्गुरी ने दूसरे किसी का विश्वास न करके अपने वृद्ध पिना को उसके साथ कर दिया। चलते समय वे दोनों आर्द्र हो गईं और सखीभाव से गाढालिङ्गनपूर्वक मिलीं—मानों उनमें कब का सखीत्व था। पूर्वजन्म की परिचित आत्माओं से देखते-देखते और मिलते-मिलते अनायास हृदय में प्रेम उत्पन्न हो आता है। देखना और मिलना तो दूर रहा, चर्चा ही सुनकर हृदय उसकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। क्योंकि अन्तरात्मा सब बातें जानता रहता है, अन्तःपटलपर सब संस्कार खचित रहते हैं। कुछ भी सहारा पा कर अपने समय पर जागृत हो जाते हैं।

६
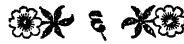
इधरका रास्ता अच्छा नहीं था। जङ्गली पेड़ों से वह भयानक हो रहा था। अतः वह कष्टपूर्वक तय करके डीहा नामक स्थानपर दोपहर को पहुँची। चना-चवण करके जल पिया और विश्राम करने लगी। वह वृद्ध बनिया कुशल एक पेड़ के सोरपर शिर रखकर सो रहा। मुदिता बैठी अपने भाग्य का लेख पढ़ रही थी। जिस हृदय से वह अपने निठुर पिया को याद कर रही थी उसका अनुभव दूसरे को नहीं हो सकता।

जिस पेड़ के तले वह बूढ़ा बनिया सोया हुआ था उसके खोड़र में एक सर्पराज विराजमान थे। आपने झट निकल

कर उसका एक कान साफ कर दिया। और उसकी धृष्टता का उसे फल दे कर चम्पत हो रहे। मुदिता ने इसे देखा। वह तुरन्त उठकर वहाँ गई और छुरीसे उसके शेष अंश को तराश दिया। इतने में वह वृद्ध वणिक् जगा और मुदिता के इस कृत्यपर रुष्ट हुआ। उसने समझा कि उसीने उसका कान काट लिया है। मुदिता ने अपनी सफाई दी और कहा कि जिसमें विष न व्यापे इसलिए हमने उसके और अंश को भी काट लिया। परन्तु बुड्ढे को विश्वास नहीं हुआ। वह उसी-पर दोषारोप करता रहा। तब उसे मुदिता ने कुछ नीम की पत्तियाँ ला कर चबाने को दीं। पर वे उसे तिक्त नहीं प्रतीत हुईं। इतने में लहर भी आने लगी। अब उसे मुदिता के कथन-पर विश्वास हो गया। वह उसे किसी तरह से कुछ दूर ग्राम के पास तक ले गई। उधर से एक मनुष्य आता दिखलाई दिया। जब वह निकट आया तब मुदिता ने उस वणिक् के सर्पदंशन का समाचार उससे कहा। वह झट गया और कुछ औषधि खोज लाया। उसका प्रयोग किया और मन्त्र से झाड़ा। कुछ देर में बुड्ढा सावधान हुआ। पर उस दिन रास्ता न चल सका। उसी ग्राम में दोनों ठहरे। आगे का मंज़िल वहाँ से बहुत निकट था। अतः वे प्रातःकाल वहाँ पहुँच गए।

इस ग्राम का नाम कृष्णपुरी था। चन्द्राकर नामक वहाँ के जमींदार और रईस के वहाँ वे ठहरे। मुदिता के पति इन्हीं

के घर ठहरे थे। उस उदार और दयालु रईस ने उस विरहिणी को आदरपूर्वक ठहराया और उसकी हालतपर बहुत दुःख प्रकट किया। यहाँ से भी एक दिन पहले वे चल चुके थे। पर चन्द्राकर ने इसके लिए पालकी की सवारी का समुचित प्रबन्ध कर दिया। उन्हों ने अनुमान किया कि इतनी दूर पाण्डुरङ्ग पहुंचे होंगे। अतः रात्रि में विश्राम न करके उस मुक़ामपर पहुंच जाने से उनसे भेंट हो सकती है। इसके लिए सोलह कहार उस परोपकारी ने कर दिए और उन्हें ताकीद कर दी कि बराबर रास्ता चले जायँ, कहीं रुकें नहीं। और उन्हें इसके उपलक्ष्य में पारितोषिक भी देने को कहा।

कृतज्ञतापूर्वक आशीर्वाद देकर वह प्रेमयोगिनी पालकी पर सवार हुई और चली। वह वणिक् यहाँ से अपने घर लौट गया। दिन भर लगातार चलाई हुई। कहार स्वभाव से खोटे होते हैं। कुछ रात गए उन्होंने सोचा कि कौन इसके साथ मरे। बोले कि "अब रात हुई, सवेरे चलेंगे। अभी ठिकाना दूर है।" बेचारी बहुत गिड़गिड़ाई, बहुत विनय किया। कहा—"भैया, तुम्हारा बड़ा उपकार मैं मानूँगी। भगवान् तुम्हारा भला करेंगे। तुम मुझ दीन ब्राह्मणी पर दया करो और चले चलो। अब वह स्थान थोड़ी ही दूर है।"

किसी तरह फिर पालकी उठाई और बड़बड़ाते चले। आगे चल कर उन कुटिल जीवों ने पालकी का दण्डा

डुमच डुमच कर तोड़ दिया। पालकी गिर पड़ी और उसके साथ वह दीन खिन्न मुदिता भी। उसका शरीर दुःख से योंही जर्जर हो रहा था उस पर इस तरह गिर पड़ने से वह बहुत चोट खा गई। मुरछ कर रह गई। चुप चाप सब कुछ सहन कर लिया।

कठिन विरह की पीर न बूझत कोय।
सोई जानत जाके हिय महँ होय॥

कुछ देर में सावधान होकर उसने बड़ी कातरता से उनसे प्रार्थना की—"अच्छा, मैं पैदल ही चलूँगी। तुम लोग मुझे साथ चल कर पहुँचा दो। इतनी ही कृपा करो।" पर वे जड़ कबके माननेवाले थे। उसी सुनसान मैदान में पड़े रहे। बल्कि और कोसने लगे। बेचारी अबला क्या करती! चुपचाप आह घोंट कर रह गई। उसने किस करुणा से अपने प्रियतम और परमेश्वर को उस समय याद किया, यह कहने की बात नहीं है। कोई रससिद्ध मार्मिक सहृदय-प्राणी ही इसका कुछ अनुभव कर सकते हैं। किसी दशा का पूरा अनुभव उसी को होता है जो उसमें प्राप्त रहता है। और उसके बीत जाने पर वह भी उसकी यथार्थ भावना नहीं कर सकता।

उस कातरा ने किसी तरह से वह रात, वह काली रात, वह विपत् के घोर अन्धकार से पूर्ण रात काटी। प्रातःकाल

सब लौकिक आशा-भरोसा तज कर केवल ईश्वर पर विश्वास करके एकाकिनी चल पड़ी। किसी कवि ने कहा है—

"तलाशे यार में क्या ढूंढ़िए किसी का साथ।
हमारा साया हमें नागवार राह में है॥"

प्रेम का पंथ ऐसा ही होता है। जिसे ढूँढते हैं वह कहां हैं, कैसे मिलेगा, कोई सङ्गी-सहायक है कि नहीं, क्या परिणाम होगा—इन बातों की ओर प्रेमी का ध्यान ही नहीं। उसे तो एकमात्र प्रियतम स्मरण है। कुलगुरु प्रेमदेव से दीक्षित हो प्रियतम को नामरूप परम मन्त्र का जप करता हुआ वह अपने दुरूह मार्ग पर चला जाता है। वह पीछे फिर कर नहीं देखता। उसकी धारणा अटल होती है, उसमें उत्सर्ग भरा होता है, उसका मार्ग दुःखों और बाधाओं से पूर्ण रहता है। पर ईश्वर उसके हृदय को कुछ ऐसा बना देता है, प्रेम के प्रभाव से उसमें कुछ ऐसी शक्ति आ जाती है, उसकी साम्प्रदायिक शिक्षा कुछ ऐसी होती है कि वह सब कुछ सहता हुआ अपने दुर्गम रास्ते पर दृढ़तापूर्वक पैर बढ़ाता हुआ चला जाता है और एक दिन अपने अभिप्रेत को छाती से लगा कर कृतार्थ होता है।

७
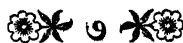
कोदम्बरा ग्राम वहां से थोड़ी ही दूर पर था। पहर दिन चढ़ते चढ़ते वह वहाँ पहुँची। नीलधर ब्राह्मण के घर गई।

उसकी भार्य्या मौक्तिकाने उसका यथावत् स्वागत-सत्कार किया। फिर उसने पूछा—'कहो, माता! तुम्हारी क्या दशा है?" मुदिता ने कहा—"कल जो तुम्हारे यहां ठहरे थे वे, विवाह होनेवाला ही था कि इतने में एक शास्त्रार्थ में परास्त हो गए। कुछ दिनों तक तो वे उसी ग्राम में थे और मैं उनकी सेवा में थी। परन्तु जिस साधु से वे परास्त हुए थे वे फिर आए। बस उसी दिन वे बिना कुछ कहे सुने चले गए। मैं वरके प्रभाव से ४० कोसों तक की बात जान सकती हूँ। उसी प्रसाद के आश्रय से मैं उन्हें खोजने निकली हूँ और जहां जहां वे जाते हैं वहां वहां जाती हूँ। माई! मेरा हाल क्या पूछती हो! संसार में मेरे लिए सुख नहीं है। जहाँ मैं बैठती हूँ वहां की पृथ्वी भी मेरा भार वहन करने में सङ्कोच करती है। मेरे लिए लोक-परलोक सब शून्य है। मैं नहीं जानती कि आगे क्या बदा है। मेरे भाग्योदयरूपी बृहस्पति के सामने साधुरूपी केतु आ गया। इसी से मेरा भाग्य फूट गया। मेरा सौभाग्य लुट गया। और क्या पूछती हो, माई!

मौक्तिका—'बेटी! तू पंडित की पुत्री और पंडित की स्त्री है। ब्राह्मण का जन्म तपस्या के ही लिए है। सो तुम्हारा पति तपस्वी हो गया, यह अच्छी बात हुई। ब्राह्मणी को उससे अप्रसन्न नहीं होना चाहिए। बल्कि उसे स्वयं तपस्विनी बन जाना चाहिए। सो, तुम भी उन्हीं की तरह तपस्विनी बन-

जाय। तुम्हारा और उनका सम्बन्ध भगवत् के सामने हो और भगवान् तुम्हारी बांह तुम्हारे पति को धरावें। तब तुम ब्राह्मणी से बढ़ती बढ़ती सावित्री हो जावगी और संसारकी स्त्रियां तुम्हारा नाम लेकर तर जायँगी।"

मुदिता—"माता! आपने मेरे भले के लिए जो उपदेश दिया उसकी रचना तो भाग्यविधाता ने ही कर दी है। जो मेरे ललाट में लिखा हुआ था वही हुआ और आपके कहने के अनुसार अच्छा ही हुआ। वैसा होना ही चाहिये था। सो, मैं भी उसको मानती हूं और जो आपने कहा है उसको मैं गिरह बाँधती हूं, परन्तु माता! मैं यह पूछती हूं कि जो अनुचरी सम्पूर्ण भोग-विलास को छोड़कर केवल एक लोटा जल और दूध अर्पण करने की लालसा से आठों पहर लौ लगाए पड़ी हो उसको क्या त्याग देना चाहिए? इससे तो यही कहा जायगा कि दया संसार से उठ गई। सो, माता! आपने मेरे हृदय और दुःख की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि सब बातें आदि से अन्त-परिणाम तक अच्छी ही हैं तो मुझे इतना दुःख क्यों मालूम होता है? मेरे ऊपर तो विपत् का पहाड़ टूट पड़ा। माता! आप भी स्त्री हैं। आप जानती हैं कि स्त्री के हृदय में सबसे प्यारी लालसा पुत्र उत्पन्न करने की होती है। इसी लालसा से वह पति की शरण में जाती है। और यही उसका सौभाग्य कहलाता है। सो तो, यह स्वाभाविको

इच्छा पूरी होने से रही। अब तो लोक-मार्ग मेरे लिए शून्य है। रहा परलोक, सो उसका लेखा मनुष्य क्या जाने कि कैसे क्या होता है! इस प्रकार मेरे लिए तो सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है। सूर्योदय से सब प्रसन्न होते हैं परन्तु उलूक को महान् दुःख होता है। उसी तरह जो घटना मेरे सिर बीती है उससे औरों का लाभ हो क्यों न हो परन्तु मेरे ऊपर तो शनैश्चर की दृष्टि पड़ गई है। और मैं आपसे क्या कहूं!"

मौक्तिका—"बेटी! जो तुमने कहा वह सब मैं समझती हूं। तुम्हारे दुःख की सीमा सचमुच नहीं है। और, जो तुमने उस साधु को केतु कहा है सो ठीक ही है। परन्तु तुम इस बात को जानती हो कि मेंहदी जब पिसी जाती है तभी लाल होती है। उसी तरह तुम्हारा भाग्य यह कहता है कि तुम ऐसे दुर्लभ पति के लिए तप करो। और अपने को इस योग्य बनाओ कि उसके वामाङ्ग में बैठ सको। तब तुम्हारी सब इच्छाएँ पूर्ण होंगी। सो, तुम हमारा कहा मान लो। व्यर्थ के रोने-कलपने से कुछ लाभ नहीं। तुम भी उसी लीक पर चलो जिसपर वे चलते हैं। यही सहधर्म्मिणी का धर्म्म है। निश्चय जानो कि ऐसा करने से जब तुम सिद्धावस्था को पहुंचोगी तब आपरूप भगवान् साक्षात् होकर तुम दोनों का सम्बन्ध कर देंगे जो कभी टूट नहीं सकता। तुम घबराती क्यों हो?

देखो, तुम्हारे लिए वे एक चिन्ह दे गए हैं। इस चरियारी को, उन्होंने कहा है कि मेरा ही प्रतिरूप समझो। ऐसी प्रिय वस्तु मैं तुमको देती हूं, जो अर्चन-वन्दन का सहारा हो जायगा। और यह भी न समझो कि मैंने उनसे तुम्हारा पक्ष नहीं लिया था। मैंने उनसे कहा कि आपने यह बड़ा अनर्थ किया कि उस अबला को इस तरह अनाथ करके चले आए। क्या सहधर्म्मिणी के साथ रहकर तपस्या नहीं कर सकते थे। फिर ब्राह्मणों के लिये घर छोड़ने से क्या! उनका तो जन्मही तपस्या के लिए होता है। श्रौत-स्मार्त कर्म्मों को करते हुए उन्हें ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए।" उन्होंने भी इस मतका अनुमोदन किया और कहा—"माता! तुम्हारा कहना ठीक है, और यह भी नहीं है कि मुझे उस ब्राह्मणकुमारी से सहानुभूति न हो, मैं उसके दुःख को समझता हूं, पर क्या करूं, उस साधु का ऐसा प्रभाव मेरे ऊपर है कि मैं उसके प्रतिकूल कुछ कर नहीं सकता।"

मुदिता को प्रियतम का वह चिन्ह पाकर और उनके ये वचन सुनकर बहुत संतोष हुआ। उसने अपने मनमें कहा—"अहो! प्रियतम के हृदय में मेरे लिए स्थान तो है, और दुःख—सुख तो कर्म्मानुसार हुआ ही करते हैं।"

कोदम्बरा से वह भाग्यमती ग्राम को गई। वहां बोधन नामक जाट जाति के एक रईस रहते थे। उस ग्राम में इन्हीं

के वहाँ पाण्डुरङ्ग ठहरे थे। उनके वहां मुदिता उतरी। उस उदाराशय रईस ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया और बहुत सहानुभूति प्रकट की। एक दिन के पहले पाण्डुरङ्ग यहां से भी चले गए थे। जब मुदिता दूसरे मंज़िल के लिए तैयार हुई तब उस रईस ने कहा—"माता! आगे का रास्ता बड़ा भयङ्कर है—और जन्तुओं से भरा हुआ कुल जङ्गल ही जङ्गल पड़ता है। इतना भी रास्ता नहीं है कि कोई सवारी जा सके।" मुदिता बोली—"भैया, चाहे जो कुछ हो, मुझे तो जाना ही है।" बाधन ने जब देखा कि यह देवी अवश्य ही जावगी तब उन्होंने अपने सिपाहियों का एक यूथ दिया। और ऐसी व्यवस्था की कि दाएँ बाएँ, दोनों पङ्क्तियों में वे चलें और बीच में उनसे सुरक्षित हुई मुदिता। मुदिता ने उस परोपकारी रईस को धन्यवाद दिया और अपना मार्ग लिया। वह वन बहुत सघन और कण्टकाकीर्ण था।

सुप्रेम को पंथ कठोर महा दुख-कण्टक ते बगरो सगरो है।
अपवाद, विषाद; कहूं उतपात, कुघातक जन्तुन को रगरो है॥
"बिन्दु" सहायक की को कहै ठगहारन हूँ को परो झगरो है।
जात सबै दुरि पै छिन में जब ही पिय लेत लगाय गरो है॥

अस्तु। सत्य स्नेह के बलसे इस महाभयङ्कर मार्ग को भी उसने पार कर लिया। जङ्गल लंघाकर सैनिक गण लौट गए।

संध्या होते होते वह जयतिसार में पहुँची ? वहाँ एक प्रसिद्ध साधु-सेवी ईरावल नामक तेली रहता था। धन-धान्य से सम्पन्न था। उसके वहां मुदिता गई। उसने बड़ी भक्ति से उसका स्वागत किया। फिर बातचीत होनेपर उसने कहा कि—"माता! वे महात्मा परसों यहाँसे चले गये। वे आप की चर्चा करते हुए बड़ी मार्म्मिकता से कहते थे कि—"मेरी स्त्री मेरे लिए बहुत दुःखी होगी।" सो, सचमुच माता! आप की दशा देख कर रुलाई आती है। लेकिन, आप धैर्य्य रक्खें, मुझे विश्वास है कि दयामय परमेश्वर आपका दुःख अवश्य दूर करेंगे। कोई दिन आएगा कि आपके पति आप को अवश्य मिलेंगे।" पर उस प्रेमयोगिनी वियोगिनी के मनने तो भगवती के शब्दों में कहा—

संघट कठिन अबाध।
कोऊ कहत पुनि मिलन असम्भव कोऊ कहत सुसाध।
"केशी" जानैं राम घड़ी सो छमब सकल अपराध॥"

आगे और भी भयावन वन था। दूसरे लद्दाख़ में तामसिक सिद्धों का अड्डा था। वे घोर तान्त्रिक थे। उनकी माया से किसी सुन्दरी का बचना बड़ा कठिन था। "मति मलीन मादुर खावैं नित नाचैं ताण्डव गतिया।" सबसे बड़ी बाधा तो यह थी कि अब उसे अनुभव नहीं होता था कि उसके पति कहाँ हैं। क्योंकि वे उसकी अनुभव-शक्ति की सीमा ४० कोसों से दूर

निकल गए थे। सब लोगों ने उसे आगे बढ़ने से निषेध किया और सन्तोष कर लौट जाने की ही राय दी। वह बिलख बिलख कर विलाप करने लगी—

तजी मोहिं कौने अवगुन नाथ!

रुचि पूजी नहिं एकहुँ जिय की नेक न निबह्यो साथ।
दान हेतु विधि! आगे करिहा लीन खींच कस हाथ॥
प्रेमसलिल-बिच हृदय-कमल को विरहागिनि!करि काथ।
संयम-व्रत नहिं कीन कवन केहि देवोन नायों माथ॥
पै नहिं हाय सहाय कियो कोउ मिटिंगे सब गुनगाथ।

उसके करुणालाप से आकाश हाहाकार करने लगा, वृक्ष काँपने लगे, पृथ्वी फटने लगी, पशु-पक्षियों ने चरना-चुगना छोड़ दिया और पंथी खड़े हो गए। सब नारी-नर रोने लगे। पर न जाने ब्रह्मा का हृदय पसीजा या नहीं।

निदान, वह आँसुओं से पृथ्वी को सींचती हुई जिस मार्ग से आई थी उधर को ही फिर लौटी। कुछ दूरतक समझाते हुए लोग उसे पहुंचा गए। विशेष कर वह जङ्गल पार कराना उनका कर्त्तव्य था। आशा के बलपर पहली यात्रा उसने काट ली थी। पर अब वह बात नहीं। नैराश्य ने अब वह बल तोड़ दिया है। जिसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते उससे आजीवन के लिए अब सन्तोष करना होगा, यह कितनी त्रिकट समस्या है। ऐसे प्रियसे जीवन में फिर अब कभी भेंट होगी

या नहीं, यह कौन जाने! कैसा हृदय विदीर्ण करनेवाला भाव है। जो कवि और श्रोताके हृदय को दहला देता है उससे उस पात्र की, जिसकी वह दशा है, क्या गति हुई होगी, यह उसी के अनुभव की बात है। पर उसे भय नहीं, क्योंकि शरीर की ममता नहीं है। वह चाहती है कि पृथ्वी फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ, कोई जन्तु मुझे अपना आहार बना ले। परन्तु विरहाग्नि से सब डरते हैं। जैसे सहस्रों वर्षों की तपस्या से तपस्वी के मुख पर तेज झलके उसी तरह प्रेमयोग की अग्नि की लहर उसके मुखकञ्जपर लहरा रही है। स्थिर और गम्भीर नेत्रों में प्रियतम की मूर्त्ति खेल रही है—मानों उसी के भार से वे दब गये हैं। प्रस्वेदबिन्दु टपकने के पहले ही देह के ताप से सूख जाते हैं। नवपल्लवयुक्त वृक्ष की शाखाएँ व्यजन बन कर उसका श्रम कम करना चाहती हैं पर उसके अंगों की निकलती हुई ज्वाला से उनके पत्रपुष्प कुम्हला जाते हैं, वायु भी कतरा कतरा कर निकल जाती है, पशु-पक्षी जलाशय तका रहे हैं, वनदेवता डरते हैं कि कहीं अनायास दावाग्नि न उत्पन्न हो जाय।

"अहमद" चिनगी प्रेम की सुनि महि गगन डराय।
धनि बिरहिनि औ धनि हिया जहँ वह आग समाय॥

९
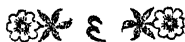
मुदिता ने पाण्डुरङ्गपुर में आकर एक क्षेत्र खोला। नित्य वहाँ जो जो आते उन्हें भोजन के सम्पूर्ण सामान दिए जाते। मुदिता पति-परमेश्वर के ध्यान में संयम-नियमपूर्वक अपना समय बिताती है। और अपने हाथों से भिक्षुओं को दान दिया करती है। इससे उसकी ख्याति भी दूर दूरतक हो गई। विरह-काल में प्रियतम की एक साधारण वस्तु भी स्त्रियों के लिए बहुमूल्य मणि के समान हो जाती है। वह चरियारी मुदिता के लिए ऐसे अवसर पर बड़ा आश्रय हो गई है। वह उसे प्यार से पूजती है, छाती से लगाती और आँखों पर लिपटाती है। पाण्डुरङ्ग वन में तपस्या कर रहे हैं। तो उनकी गृहणी गृह में उनके लिये तप रही है। बड़े बड़े तपस्वी उसके संयम-व्रत को देख कर दङ्ग रह जाते हैं।

* * * *

पाण्डुरङ्ग को बलूचिस्तान के जङ्गल में तप करते बहुत दिन हो गए। यौवनकाल में वैराग्य की बड़ी शोभा होती है और फिर यदि उस समय निर्विघ्न तप बन पड़े तो क्या कहना। तपोतेजःपुञ्ज उनका शरीर हो गया। एक दिन वे साधु उनके पास फिर पहुँचे। और बोले कि—"विरक्त को चाहिए कि वह एक बार अपनी जन्म-भूमि से हो आए। उत्तम तो यह है कि गुप्तरूप से जाय—कोई लखे नहीं। यदि

कोई पहचान गया तो मध्यम और यदि विरक्त वहाँ मोह-ममता में फँस गया तो वह अधम है। देखना बहुत सावधानता से जाना और तीन रात से अधिक न रहना।"

*　　*　　*　　*

पाण्डुरङ्ग को अपनी जन्म-भूमि पर आए आज दो दिन हो रहे हैं। न उन्होंने किसी को जनाया और न उन्हें किसी ने पहचाना ही। क्योंकि उन्हें यह ग्राम छोड़े एक सुदीर्घ काल बीत गया और इतने दिनों में साधु के वेष में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। एक तो अन्तःकरण से पुराने भाव निकल जाते हैं और उनका प्रभाव मुख मण्डल की रेखाओं पर पड़ता है। दूसरे अवस्था की प्रौढ़ता के कारण जटाजूट और श्मश्रु भी बढ़ जाते हैं और तीसरे भस्म एवं सेली आदि की धारणा। पहले दिन उन्होंने कुछ नहीं खाया। इस खयाल से कि जनता में भिक्षा करने से शायद कोई उन्हें पहचान लेता। दूसरे रोज़ भी सारा दिन बीता। जब सन्ध्या के बाद प्रदोष-काल में अन्धकार का अधिकार हो गया तब वे बाई जी के क्षेत्र पर गए। अधिकारी ने उन्हें पुरजा दे दिया और वे उसे लेकर निर्दिष्ट झरोखे पर गए। जङ्गले से हाथ भीतर कर पुरजा देने लगे। बाईजी ने उन्हें देखा और हाथ पकड़ लिया। कहा—"भीतर चले आइए।" चिक हटाकर वे भीतर गए। बाईजी ने आसन दिया और उनके चरणों को शिर-आँखों में लगा कर

और छाती में चपकाकर अविरल अश्रुधारा से उन्हें धोने लगी। उस तपस्वी के नेत्र भी आँसुओं से भर गए। कहाँ तक भाव दबे रह सकते हैं, हृदय को संयम के बन्दीगृह में कहाँ तक क़ैद रक्खा जा सकता है। प्रेम अपना प्रभाव दिखलाए ही गा, प्रकृति अपने धर्म का पालन करे ही गी। बीज जब क्षेत्र में पड़ा हुआ है तब वह एक दिन समय पाकर जमेहीगा। जितने गहरे, मिट्टी के तह में वह रहेगा। उतनी ही उसमें शक्ति आएगी, उतना ही उसका अधिक विकास और विन्यास होगा। जब कर्म्मों का फल देनेवाला और हृदय को देखने-वाला ईश्वर विद्यमान है तब बाईजी की तपस्या, मुदिता की वह कठिन अनुसन्धान-यात्रा कैसे व्यर्थ हो सकती थी।

प्रेम की शक्ति न रङ्ग अपना दिखाए कैसे ?
लोक-विश्रुत सुयश-मर्य्याद मिटाए कैसे ?
किसी हृदय को सतत कोई सताए कैसे ?
शक्ति आकर्षणी नहिं खींचकर लाए कैसे ?
यदि हृदय है तो द्रवीभूत न हो जाए कैसे ?
किसी दुखी पै दया ईश न लाए कैसे ?
विश्व से विश्वास औ आशा वह उठाए कैसे ?
"बिन्दु" कवि-बन्ध को नीरस वह बनाए कैसे ?

मुदिता पूछना ही चाहती थी कि—नाथ ! मुझे छोड़ते समय क्या तुम्हारे हृदय में कुछ भी दया न आई ? कभी भूल

कर भी इस दासी को याद किया था ? इतने में वे मुदिता के चिरपरिचित केतु फिर पहुंच गये। एकाएक उस भवन में इतने दिनों के बाद संयोग से एकत्र हुए वे योगी वियोगी दम्पति उस साधु को देख कर सन्न हो गए। वह पण्डुरङ्ग को फटकारता हुआ बोला—"मैं कहता था कि तुम अधम श्रेणी का अपने को सिद्ध करोगे। निदान, वही हुआ। क्यों, एकान्त में स्त्री के साथ बैठना, यही विरक्त का धर्म है ?" प्रियतम का अधिक अपमान अब मुदिता न सह सकी। उसने उन्हें आड़े हाथ लिया। बोली—"भगवन्! मैं जानती थी कि साधुओं में बड़ी दया होती है। उनका हृदय बड़ा कोमल होता है। किसी का दुःख देख कर तुरत पसीज जाता है। इसीलिए सन्तहृदय की नवनीत से उपमा दी जाती है। पर मालूम होता है स्त्री होने से श्रीचरण ने उसे अपने अन्तः करण से निकाल दिया है॥कृपया अविनय क्षमा कीजियेगा। साथही मुझे यह आश्चर्य होता है कि विद्या, विरक्ति, सिद्धि, शक्ति, मुक्ति इन माताओं का आदर आपके हृदय में कैसे है ? आप विचार कर देखें। स्त्री का त्याग नहीं हो सकता। ब्रह्मपद तक वह साथ रहती है। स्त्री पुरुष का परस्पर ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनका त्याग और पार्थक्य स्वभावतः हो नहीं सकता। यदि कोई करता-कराता है, तो वह अन्याय, हठ और अधर्म करता है। जिस प्रकार अर्थ एक ही रहता है और लिङ्गसत्त्व से शब्दों

के स्वरूप का भेद हो जाता है, मैं समझती हूँ कि, तैसे ही एक ही आत्मा स्त्री-पुरुषोंके शरीर में रहता है। और शरीर भी एक ही तत्त्व के दोनों के बने हुए होते हैं। फिर मैं नहीं समझती कि स्त्रीजाति से क्यों इतनी घृणा की जाती है।"

साधु ने कहा—"पुत्री, मैं स्त्रीजाति से घृणा नहीं करता। किन्तु तुम्हारी ही उक्ति और युक्ति के अनुसार मैं भी स्त्री-पुरुष का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध मानता हूँ और इसी लिए वैराग्य में स्त्री के त्याग का विधान है। क्योंकि एक की दूसरे के प्रति स्वभावतः प्रवृत्ति होती है। उनके एक सङ्ग रहने से विषय-विकार की आशङ्का रहती है और योग में वह विघ्नस्वरूप है।"

मुदिता—"पर, स्वामिन्, जिसने सम्पूर्ण विषय-वासना को तिलाञ्जलि दे दी, समानधर्म्मिणी बन कर जो केवल आंखों भर देख लेने और एक कमण्डलु जल लेकर चरण पखार देने में ही अपने को कृतार्थ मानती है क्या उसका भी त्याग आपके सम्प्रदाय में धर्म्म माना जाता है।"

साधु—"बेटी यदि ऐसा है तो तुम इनके सङ्ग रह सकती हो, मैं आज्ञा देता हूं। तुम निस्सन्देह इस योग्य हो।"

अन्त में प्रेम की ही जय हुई। ज्ञान-वैराग्य को उसकी महिमा के सामने शिर झुकाना पड़ा।

महात्मा उन्हें एक सङ्ग रह कर तपस्या करने की आज्ञा देकर चले गए। मुदिता ने अपना सम्पूर्ण धन-वैभव ब्राह्मणों को दान कर दिया। और पति-सहित तपस्या के लिए चली गई।

प्रयाग में त्रिवेणी के तट पर वे तपस्वी दम्पति रहने लगे। "प्रेम निबाहत पथ परमारथ" को चरितार्थ करते रहे। इस प्रकार उन्हें वहां रहते कुछ दिन बीत गए। एक दिन वे महात्मा आए। दोनों ने अर्घ्यपाद्य से उनका पूजन किया। महात्मा प्रसन्न होकर बोले—

"सुमेरु पर्वत पर एक देवदम्पति रहते थे। वे अपने उद्यानकुञ्ज में सुख से विहार कर रहे थे। उसी समय लोमश ऋषि उधर आ पड़े। उन्होंने उनको पुकारा। परन्तु वे इतने काम-मोहित थे कि ऋषि की बात उन्होंने नहीं सुनी। तब महात्मा लोमश उस कुञ्ज में पहुंच गए। उन्हें देख कर दोनों सावधान हुए और भयभीत हो उठे। ऋषि ने शाप दे दिया कि "जाव, तुम दोनों मर्त्यलोक में पतित हो और ठीक यौवनावस्था में तुम्हारा विच्छेद हो। नायक के बहुत अनुनय-विनय करनेपर ऋषि ने वर दिया कि "अच्छा, तुम्हें ज्ञान बना रहेगा, मोह में नहीं फँसोगे।" अस्तु। काल पाकर वे पतित हुए। वे ही तुम दोनों हो। अच्छा, देखो वह विमान आ रहा है और मैं अब स्वर्ग को जाता हूँ।" उन दोनों ने भी प्रार्थना की कि—

"भगवन् ! हमें भी साथ लेते चलिए।" वे बोले "तथास्तु"। देखते देखते तप्त स्वर्ण के समान चमकता हुआ और पारिजात के फूलों से सजा हुआ दिव्य विमान आया और वे तीनों सदेह उस पर सवार होकर अपने लोक को चले गए।

प्रेमिन की आशालता नित फूलै सरसाय।
बहै गन्ध कवि पवनहु जुरै रसिक अलि आय॥

—श्रीबिन्दु ब्रह्मचारी।

विशाखा

१

ज कुमार ! ये आँखे, जो तुम्हारे दर्शन की प्यासी सदा ही बनी रहती हैं, तुम्हारे बिना किस प्रकार सुख की नींद सोवेंगी ? यह भुजदण्ड जो श्री-कण्ठ का आश्रय लेते थे, अब किसके आश्रित रहेंगे ? इसी तरह सारे अंगों की अवस्था समझ लीजिये । हे आर्य-पुत्र ! इसीसे मैं कहती हूं कि जहां जाइये, इस दासी को भी अपने साथ लेते जाइए ।"

इन प्रेम भरी बातों का जब राजकुमार ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब उस नायिका ने हाथ पकड़कर कहाः—

"प्यारे ! इतने संकोच का क्या कारण है । यदि आप धर्म-प्रचारार्थ सिंहलद्वीप को जाया ही चाहते हैं और मुझे साथ लिवा जाने में एक प्रकारका बोझ समझते हैं तो मैं भी वीर

भद्रे ! इस संसार में धर्म ही एक अपूर्व धन है, जिसकी रक्षा करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है। इस तत्त्व को हमारे पूर्वपुरुषों ने हमें बड़े प्यार से बतलाया है। इस तत्त्व को जानने के लिए अन्य देशवासी भारतवर्ष की ओर टकटकी बांधे हैं। ऐसे अवसर में भारतवर्ष को भी अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। अस्तु, भारतमाता की प्रेरणा से मैं इस धर्मकार्य में प्रवृत्त हुआ हूं और यदि मैं जीता रहा तो अवश्य बारहवें वर्ष तुम से मिलूँगा।"

राजकुमारी विशाखा ने आंसू रोककर फिर कहाः—"प्राणनाथ, अब तो यह बारहवर्ष बारह कल्प के समान मुझे काटने पड़ेंगे और न जाने इस बीच में क्या क्या परिवर्त्तन हो। अतएव, मैं प्रार्थना करती हूं कि कृपया मुझे कुछ ऐसे उपदेश दे जाइए कि जिसकी धारणा से मेरा चित्त सदा श्रीचरणोंमें लगा रहा करे। मेरी मनोवृत्तियां चंचल न होने पावें। मकरध्वज के प्रकोप से मेरी शान्ति भंग न होने पावे।"

राजकुमार इस प्रार्थना को सुनकर कुछ देर तक चुप रहा। कुछ विचार करता रहा। अन्त में उसने कहाः—

"मनुष्य की मनोवृत्तियां स्वभाव से ही चंचला हुआ करती हैं, चाहे स्त्री हो वा पुरुष। जिस गहिरी नींद (सुषुप्ति) की अवस्था में इन मनोवृत्तियों का अनेक रूप सिमट कर एक

हो जाता है और वह वृत्ति भी प्राण में लय हो जाती है, उस दशा में मनुष्य को जो शान्तिसुख प्राप्त होता है उसी को वह हर एक विषय में खोजा करता है। परन्तु उस सुखका स्वाद उसको किसी विषय में नहीं मिलता। मिले कैसे ? मनुष्य तो जागृत दशा में उस सुषुप्तिवाले सुख को प्राप्त करना चाहता है। इस स्वाभाविक प्रबल मनोविकारके उत्पन्न होने से ही चित्त में व्यग्रता आ जाती है। यही चंचलता का असली कारण है। यदि तुम चाहती हो कि शान्ति-सुख ही में तुम्हारी जीवन-यात्रा समाप्त हो तो तुम्हें सबसे पहिले संसार की ओरसे सुषुप्ति में रहने का प्रबन्ध करना चाहिए। जो संसार की ओर से सो जाता है। वही परमार्थ में जागता है। हे प्रिये ! देखो स्त्रियों के लिए यह बात कैसी आसान है। पतिव्रता क्या करती हैं ? वह अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को प्रेम की डोरी में बांधकर प्राणपति में लय कर देती हैं। न उसके पास मन है, न चित्त है, न बुद्धि, न अहंकार। वह वास्तव में संसार की ओर से सो जाती है। प्राणपति ही उसकी दृष्टि में एकमात्र सत्य पदार्थ है। शेष सम्पूर्ण संसार उसके लिए स्वप्नवत् है। संयोग शृंगार में वह इस संसार के साथ स्वप्नवत् व्यवहार करती है परन्तु वियोग-शृङ्गार में जब प्रेम परिपक्व होकर विरह का रूप धारण करता है तब उसकी दृष्टि में यह संसार ही लोप हो जाता है। और

वह गहरी सांस लेती हुई गहरी नींद में सो जाती है। सो हे सुलोचने! अब तू भी इस गहिरी नींद में सोजा।"

दूसरी बात यह है कि मैं तुझे यह हार देता हूं। इसे सदा गले में पहने रहना। जब इसके दाने बिलकुल मुरझा जायँ अर्थात् हर एक मूंगे का दाना पीला पड़ जाय तब जान लेना कि अब हमारी तुम्हारी भेंट इस पृथ्वी पर न होगी।

तीसरी बात यह है कि, व्यवहार में सदा असंग रहना। अपने धर्म से कभी न डिगना। देखो, वह ध्रुव दिखलाई दे रहा है। इसके आसन कभी नहीं डिगते। तुम्हारा आसन भी ऐसा ही दृढ़ होना चाहिए। यही परमार्थ की कुंजी है।

इस प्रकार उपदेश देकर राजकुमार ने विशाखा के गले में मूंगे का हार पहिना दिया और प्रेम-सहित एक बार प्रिया को फिर छाती से लगाकर बिदा हुआ। उस समय राजकुमारी के दिल पर कैसी बीती, इस बात को वही समझ सकते हैं जो कभी प्रेम के पुनीत मार्ग से विचरे हों। परन्तु उस अबला ने एक भी अश्रु बूंद गिरने नहीं दिया। प्राणपति का प्रस्थान जिसमें मंगलमय हो, इसी पर उसका ध्यान जमा हुआ था।

२

राजकुमार को विदेश गए आज दस वर्ष बीत चुके हैं। विशाखा धम्मपद का पाठ कर रही है। एकाएक उसकी दृष्टि हार के दानों पर पड़ी। कुछ दाने मुरझा रहे थे। मूंगों के

पीलापन ने उसके बदन को पीला कर दिया। वह मूर्च्छित हो गिर पड़ी और दिव्य लोक में प्रियतम से मिलने के लिए प्रस्थान कर चुकी। दासियाँ दौड़ कर आईं। मुख में जल डाल कर पंखा झल कर उसको सचेत करने की चेष्टा करने लगीं। कुछ देर में उसके होश आए। वह सचेत हुई। अब उसने फिर हार को हाथ में लिया और वह ध्यानपूर्वक देखने लगी। लाल लाल दाने देख कर उसका सारा दुःख भाग गया और उसे इस बात का निश्चय हो गया कि राजकुमार जीवित हैं। वह उठ कर महारानी के पास गई और किसी पुनीत स्थान में वास करने के लिए आज्ञा मांगी। उसने कहः—

"अम्बे! मुझे वियोग-विरह की अग्नि में तपते दश वर्ष बीत गए। अब मुझे यह राज--प्रासाद भयङ्कर श्मशानभूमि की तरह मालूम होता है। ज़रा भी दिल नहीं लगता। अब तो योगिनी बन कर किसी तीर्थभूमि में वास करने का विचार निरन्तर हुआ करता है। अब कुछ दिन के लिए ऐसा ही प्रबन्ध कर दिया जाय। यदि ऐसा न होगा तो मेरा जीना कठिन है।"

इस बात को सुन कर महारानी को बड़ा दुःख हुआ। दबी हुई आग धधक उठी। "हा! प्यारे पुत्र को देखे इतने दिन हो गये, कब वह शुभ घड़ी आवेगी कि राजकुमार के दर्शन होंगे। इन्हीं बातों को मन में सोच-समझ कर महारानी कुछ देर तक चुपचाप बैठी रह गईं। इस अवसर पर क्या करना

चाहिए-इस बात का निर्णय न कर सकीं। अस्तु, इस विषय में महाराजा से सलाह लेने का निश्चय करके इस प्रकार कहने लगीं:—

"पुत्री! मेरी भी वही दशा हो रही है। परन्तु मैं अपनी वेदना किससे कहूं? कौन सुने! इसीसे मन मारे रहती हूं। बेटी! तुम्हारी दशा देख कर मैं और भी दुःख सागर में पड़ जाती हूं। जो तुम किसी पवित्र भूमि में वसना चाहती हो, इसमें मेरी पूरी सहानुभूति है। आज मैं महाराज से पूछ लूंगी। तुम अपने मन में निश्चय रक्खो कि तुम्हारे लिए कुछ उठा नहीं रक्खा जायगा।"

इस प्रकार आश्वासन देकर सामने पतोहू को बिदा किया।

३
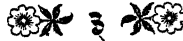
राजा समुद्रगुप्त ने अपने नाम पर साधु-सन्तों के लिए एक कूप बनवाया। उस 'समुद्रकूप' की प्रशंसा बहुत दूर तक फैली। अंग, वंग, तिलंग सब स्थानों से लोग उसे देखने के लिए जुटने लगे। क्यों न हो! उसके जल में कुछ अपूर्व शक्ति थी। रोगी रोग के लिए, भोगी भोग के लिए एवं योगी योग के लिए उसे पुनीत वेदों में वर्णित सोमरस ही समझते थे। तीर्थ-राज की त्रिवेणी के साथ इस कूप की महिमा भी देश-देशान्तर में फैल गई।

समुद्रकूप के पास ही सत्ताइस धनुष् पर एक पर्णकुटी बनी हुई थी। इस कुटी में एक परम सुन्दरी युवती, अंग में भस्म रमाए, वल्कल वसन धारण किये, शान्ति, तप और संयम से युक्त रहा करती थी। जितने यात्री आते थे उनमें से बहुतेरे उसके मनोहर उपदेश सुनने के लिए अवश्य आया करते थे।

तपस्विनी एक राजकुल की वधू थी। महाराजा समुद्रगुप्त की नानी की भ्रातुष्पुत्री (भतीजी) थी। इस नाते महाराज उसको मौसी (मउसी) कहते थे। और इसी से सब लोग उसे मासी कहने लग गए थे। यहां तक कि बाहर के लोग भी यही कह कर उसकी पूजा करते थे।

मासीजी अकेली पर्णकुटी में रहा करती थीं। उनकी सेवा के लिए जो दो दासियां राजा ने नियुक्त की थीं, एक दूसरे भवन में रहती थीं।

पर्णकुटी में एक घड़ा समुद्र-कूप जल, एक कुश की चटाई, दो चार पुस्तकें और एक मूंगे की माला थी। एक कोने में धूनी जगी रहती थी और उसी पर कंद-मूल की दो चपातियां अपने हाथ से मासीजी सेंक लेती थीं। इस प्रकार सात्त्विक जीवन निर्वाह करके मासीजी ने इस कलियुग में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी। उनके दर्शन को बड़े बड़े महात्मा भी आया करते थे। राजा महाराजा भी नाक रगड़ते थे।

स्त्रियों के लिए तो वह देवी मैत्रेयी और गार्गी के समान थीं। मेला के दिनों में कुटी के आसपास धर्मप्राण नारियां उपदेश सुनने के लिए टिक जाया करती थीं। विशेषतः राजकुल की स्त्रियाँ अवश्य दश पाँच दिन के लिए इस स्थान पर पड़ाव डालती थीं। सुधामय कूपजल पान कर और अमृतरूप उपदेश सुनकर कौन मनुष्य कृतकृत्य नहीं हो सकता! सत्संगरूपी विमान पर चढ़ कर दिव्य लोकों की सैर करना कौन नहीं चाहता?

४
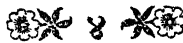
एक बार माघ मेला के अवसर पर राजा धर्म्मसेतु सपरिवार पधारे थे। पातकहरणी त्रिवेणी के तट पर उन्होंने कल्पवास किया और ब्राह्मणों और भिक्षुओं को बहुत दान भी दिया। सब लोग संतुष्ट हो कर राजाजी को धन्य धन्य कहते थे। अन्त में वह अपर महात्माओंके दर्शन करते हुए पर्णकुटीर में पहुंचे। राजाजी के साथ एक महात्मा भी थे। राजा उनको गुरुसमान समझते थे। अस्तु, राजा ने महात्माजी से मासीजो के दर्शन करने की आज्ञा माँगी। महात्माजी ने कहाः—

"राजन्! मैंने भी इस देवी की प्रशंसा बड़े २ योगियों से सुनी है और मुझे भी मासीजी के दर्शन की उत्कट अभिलाषा है। अतएव मैं भी आपके साथ चलूंगा। परन्तु वहां जाने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि किस समय देवीजी के

दर्शन हम लोग अच्छी तरह प्राप्त करेंगे और उनके सत्संग से लाभ उठावेंगे।"

यह बात राजा के मन में बैठ गई। उन्होंने फौरन् आदमी भेजकर युगल दासियों के द्वारा दूसरे दिन प्रातःसमय भेंट करना निश्चित कर लिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यकृत्य से निवृत्त हो कर, राजा महात्माजी को साथ लेकर देवी के दर्शन को चले। पर्णकुटी में पहुँच कर विनीत भाव से प्रणाम किया। देवी ने महात्मा को अंचल-सहित प्रणाम किया। कुशासन पर जब सब लोग बैठ गए तब देवी ने अत्यन्त नम्र हो कर महात्मा का परिचय पूछा। इसके उत्तर में राजा ने कहाः—

"ये महात्मा हमारे गुरु हैं। इन्हीं के सत्संग से मुझे परमार्थ की चाह हुई। आपने लंका, चीन और जापान में धर्मोपदेश का सोता बहा दिया है। लाखों मनुष्य आपके शिष्य हैं। श्रीमती के तप की प्रशंसा सुनकर यहां पधारे हैं।"

यह वार्त्ता सुनकर तपस्विनी विस्मित हो कर कहने लगींः—

"आज का दिन मेरे जीवन में सर्वोत्तम है कि ऐसे परोपकारी महात्मा के दर्शन हुए। मेरे हृदय में इस समय जो आनन्द का संचार हुआ है उसको मैं वर्णन नहीं कर सकती। अब तो यही जी चाहता है कि महात्मा के मुख से उन देशों का वृत्तान्त सुन कर अपने को कृतार्थ मानूँ।"

इस पर महात्मा ने कहा—"मेरा भ्रमण-वृत्तान्त यदि सुनने की इच्छा है तो मैं उसे संक्षेपतः निवेदन करता हूं।

जब मैं महल से विदा हो कर बाहर आया उस समय मेरा मन विदेश जाने में आगा-पीछा करने लगा। परन्तु मैंने अपने मन को इस धर्म-कार्य में प्रवृत्त होने के लिए खूब उत्साहित किया और भारतमाता की प्रेरणा से मेरे मन की कचाई दूर हो गई। मैं "मधुकर" पर सवार हो कर दस दिन में बड़े आनन्द के साथ कुशलपूर्वक सिंहलद्वीप में पहुंच गया। वहाँ जहाज से उतरते ही द्वीपनिवासियों ने देव-तुल्य मेरा सम्मान किया। बहुत से भारतवासी जो वहाँ बस गए थे मेरे पास आए। उनको मैंने प्रेम से छाती से लगाया। उनके द्वारा वहाँ का पूरा हाल मालूम किया एवं धर्म-प्रचार का काम किस प्रकार करना चाहिए, इस बारे में उनकी सम्मति ली। अनन्तर मैं राजमहल में निमंत्रित किया गया। वहाँ पर भी मेरा राजा ने बड़े प्रेम से सम्मान किया और प्रधान धर्माधिकारी का पद मुझे प्रदान किया। तब से मैंने धर्म-प्रचार का कार्य अपने हाथ में लिया। प्रथम तो मैंने सब जगह घूमकर साधारण उपदेश दिया और सब बातों की जानकारी प्राप्त की। अनन्तर सम्पूर्ण द्वीप को चार प्रान्तों में बांट कर चार संघ स्थापित किये। उन संघों के अधीन बहुत से सामान्य संघ भी रहे। उन सब का निरीक्षण मैं स्वयम् करता था। साथ ही मैंने कृषी के

लिए २०० से अधिक बड़े बड़े पोखरे और सरोवर बनवायें, ५०० से ऊपर औषधालय स्थापित किए। इसी तरह अनेक बड़े बड़े विद्यालय भी खोल दिए जिन में देशभाषा के साथ साथ संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ भी सिखलाई जाती थीं। लोग बड़े शान्तिप्रिय थे, विद्याऽनुरागी थे और धर्म-कार्य में उत्साह प्रकट करते थे।

इस प्रकार कुछ दिनों तक मैं वहां रह गया। जब वहाँ का प्रबन्ध सब ठीक हो गया तब मैंने चीन देश में ऋषि मंजुश्रीसे मिलने के लिए प्रस्थान किया। वहां पहुँचने पर मुझे बहुत संतोष हुआ क्योंकि उस देश में धर्म-प्रचार का काम बड़े ज़ोरों पर चल रहा था। मैं वहां बरसों टिक गया और यथाशक्ति वहाँ भी काम किया। बहुत दिन तो वहां की भाषा सीखने में ही लग गए। जब भाषा का ज्ञान मुझे हो गया तब मैं प्रचार के काम में पूर्ण रूप से भाग लेने लगा।

इस प्रकार वहां मुझे सात वर्ष लग गए। इस बीच में मैंने सैकड़ों संस्कृतग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया एवं दो चार पुस्तकें स्वयम् भी लिखीं जिसका वहां खूब प्रचार हुआ और भारतमाता की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

अनन्तर जापान देश के राजा ने वहां के राजा के द्वारा कुछ धर्मोपदेशकों को अपनी राजधानी में बुलाया, मैं भी वहां जाने के लिए उत्सुक हुआ। अस्तु, राज-पोत पर आरूढ़

होकर मैंने वहां से जापान के लिए प्रस्थान किया। परन्तु संयोगवशात् समुद्र में एक दुर्घटना उपस्थित हुई। राज-पोत भँवर में पड़ गया। सब लोग व्याकुल हो गए। निषादों ने बड़े परिश्रमसे जहाज़ को भँवर से डूबते-डूबते बचाया। सब की जान बची और जहाज़ फिर बड़े वेग से चला। राज-पोत कुछ ही दूर गया होगा कि कर्णधार ने उच्च स्वर से पुकारा—"राज-पोत एक पहाड़ीसे टकरा गया और इसका बचना असम्भव है।" इसको सुन कर सब लोग अधीर हो गये। हाय हाय पुकारने लगे। उस समय की व्याकुलता अवश्य अकथनीय है। सबको अपनी ही जान बचाने की सूझती थी। निषादों ने दो डोंगियां छोड़ीं, परन्तु उन पर इतने लोग कूद पड़े कि, वह भी डूब गईं। मैं भी समुद्र में उन लोगों के साथ डूबा। परन्तु मुझे तैरने का अभ्यास था। जहां तक हो सका मैंने तैरने की चेष्टा की, परन्तु जब बहुत थक गया तब मैंने अपने को समुद्र के हवाले कर दिया। संयोगवश प्रचण्ड वायु चली और मैं बहता हुआ एक किनारे लगा। उस समय जो हर्ष मुझे हुआ उसको वे ही लोग अनुभव कर सकते हैं जिन्होंने कभी समुद्रयात्रा की है। एक सज्जन ने मुझे सहारा देकर उठाया। और अपने घर ले जा कर बड़ी सेवा की। जब मैं पूरे तौर पर चंगा हो गया तब उसने मुझ से मेरा परिचय पूछा। मैंने सब हाल कह सुनाया जिसे सुन कर वह बहुत

प्रसन्न हुआ। अनन्तर वह मुझे राज-दरबार में लिवा ले गया। राजा ने भी मेरा अच्छा सम्मान किया और मुझे एक मन्दिर में निवास करने के लिए स्थान दिया। वहां पर भी मैं दो वर्ष तक रहा और धर्म प्रचार का काम किया। अनन्तर मेरी इच्छा स्वदेश को लौट आने की हुई। यह बात वहांवालों को बहुत अखर गई और बहुत हठ करने पर उन लोगों ने मुझे बिदा किया। मैं फिर एक व्यापारी जहाज़ पर चढ़ कर चीन और लंका होते हुए भारत में, अभी थोड़े दिन हुए, आया हूं।

मैं अपने जन्मस्थान पर जाकर अपने कुटुम्ब-परिवार से मिलने की इच्छा करता हूं, क्योंकि अब बारह वर्ष पूरे हो गए और परिवार के लोग विशेषतः मेरी धर्मपत्नी बाट जोहती होगी। यही मेरा जीवन-वृत्तान्त है।"

इस कथा को सुनकर तपस्विनी का हृदय हर्ष और विस्मय से पूर्ण हो गया। उसने कहा:—

"मैं नहीं कह सकती कि मैं किस दशा में प्राप्त हो गई हूं। इस मनोहर कथा को सुनकर मेरे कान पवित्र हो गए और मैं अन्तःकरण से बार बार धन्यवाद देती हूं।"

इस तरह परस्पर वार्तालाप होने के अनन्तर राजाजी और महात्माजी बिदा मांग कर अपने पड़ाव पर चले गए।

५
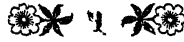
महात्माजी चले तो गये परन्तु अपने साथ तपस्विनी का मन भी हर ले गये। वह सब कुछ भूल गई और सब बातों को मिलाकर आप ही आप कहने लगीः—

"निस्सन्देह यह महात्मा मेरे प्राणपति ही हैं। इनकी बोल-चाल, इनकी चितवन और मन्द मुसकान सब ठीक ठीक मिल जाते हैं, अब तो एक पल भी उनके विना कल्प के समान बीत रहा है। मेरे अहोभाग्य कि, आज दर्शन हुए। जिनके बिरह में मेरी ऐसी दशा हो गई है वही आज मुझे कृतार्थ करने के लिए आगए। अब श्रीचरणों पर न्यौछावर हुए बिना मेरा दिल कैसे मानेगा! सब लोकलाज छोड़ कर मुझे अभी जाना चाहिए और अपना परिचय देना चाहिए।"

इस प्रकार प्रेमविह्वल होकर तपस्विनी आसन से उठ खड़ी हुई, मूंगे की माला हाथ में ली और कुटी के बाहर निकल आई। दोनों दासियों को साथ लेकर वह राजा के पड़ाव पर गई। राजा ने उठ कर अर्घ्यपाद्य से पूजन किया। सुन्दर आसन पर विराजमान कराया। और इतने शीघ्र पधारने का कारण पूछा। तपस्विनी ने केवल इतना ही कहाः—

"मैं केवल महात्माजी के दर्शनार्थ आई हूं। कहिए, आपके गुरु महाराज कहाँ हैं? राजा ने कहा,—"लघुशंका के निवारणार्थ गए हैं, अभी पधारेंगे।" इतने ही में महात्मा जी

आ गए। तपस्विनी चरणों पर गिर पड़ी, मूंगे का हार गले में पहना दिया और सजल नेत्र से मुखारविन्द की ओर देख कर कहने लगी :-

महात्मन्! यह आपकी वही दासी है जिसे अवलम्बन-स्वरूप आपने इस मूंगे के हार को देकर विदेश को प्रस्थान किया था। आज तक बाट जोहते ही बीत गए। इन आँखों ने नींद का स्वप्न भी नहीं देखा। विरह की अग्नि में सम्पूर्ण मनोविकार जल गए। जिस प्रकार मैंने बारह वर्ष की अवधि काटी है उसका साक्षी यह संसार है। जिस समय जापान-यात्रा में वह दुर्घटना हुई थी, मालूम होता है, उसी समय मूँगे पीले पड़ गए थे। उस समय जो मेरी दशा हुई थी उसको या तो मैं जानती हूं या मेरी सास महारानीजी। एवं जब आपका शरीर जापान के किनारे लगा और आप मेरे भाग्य से बच गए तब यही मूंगे फिर लाल लाल हो गए। उस समय न जाने कितने सुतर्क और कुतर्क मेरे मनमें उठे। अन्त में मैंने किसी एकान्त पवित्र भूमि में निवास करने का संकल्प किया और वृद्ध महाराज अपने श्वशुर की कृपा से मैं यहां पर आई और रहने लगी। महाराज समुद्रगुप्त ने भी उस समय से अब तक जो मेरे ऊपर कृपा की है उसको भी, हे आर्यपुत्र! आपके सन्मुख कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करती हूं। अब तो हे प्राणपति!—

दुख की घड़ियां कट गई, शोक हुआ सब दूर।
हम तुम मिल कर फिर रहें, सुख पावें भरपूर ॥

महात्मा का हृदय, इस वृत्तान्त को सुन कर और अपनी धर्मपत्नी का धर्माचरण देख कर, फूल उठा। उसमें प्रेम की बाढ़ आगई। आखें बह चलीं। फिर सावधान होकर वे बोले—'प्रियतमे! तुम्हारी तपश्चर्या फलीभूत हुई। मैं विदेशों में धर्म प्रचार का कार्य सम्पादन करके फिर भगवत्-कृपा से तुम्हारे पास चला आया। यह सब तुम्हारे सुकृत का फल है। अब मेरे मन में एक लालसा और रह गई है। वह यह है कि कोशलखण्ड में, सूर्यवंशियों की पुरातन राजधानी में जाकर मैं दातून वृक्ष के नीचे कुछ दिन अष्टाङ्गयोग का अभ्यास करना चाहता हूँ। वहाँ यही मेरा ध्येय है। अतः तुमसे यही प्रार्थना है कि तुम इस अन्तिम अनुष्ठान में अपनी परिचर्य्या से मुझे सन्तुष्ट करो।" विशाखा ने कहा—'स्वामी! यह तो इस दासी का मुख्य कर्तव्य ही है। कुलवधू के सुहाग का सिन्दूर यही तो है। इसीके लिए तो तरसती रही हूँ।"

अनन्तर धर्म्मप्राण दम्पति वहाँ से कोशल देश को आए और दातून वृक्ष के नीचे तप करने लगे। वे पत्तियां चबा कर शून्य ध्यान में लीन रहा करते थे। उनके अङ्ग अङ्ग से सत्त्व गुण की किरणें निकलने लगीं। देवता उनके दर्शन को आने लगे। उनकी विमल भक्ति से प्रसन्न होकर समन्तभद्र ने उन्हें

दर्शन दिया और कहा—यह पुरातन सिद्ध पृष्ठ है, नर-सृष्टि का मूलस्थान यही है। पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की लीला-भूमि है। उसी का स्मरण करके मैंने भी यहां बहुत दिनों तक निवास किया था। एक दिन दातून करके मैंने उसे गाड़ दिया। वह सुन्दर वृक्ष हो गया। तुमने उसी प्रिय वृक्ष के नीचे आसन जमा कर मेरी आराधना की है। इससे मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं। तुम जो चाहो वर मांगो।" भगवान् के वचन सुन कर दोनों कृतार्थ हुए। पति के सर्वश्रेष्ठ निर्वाण की इच्छा-पूर्त्ति होते देखकर विशाखा ने हाथ जोड़कर कहा—"इस दासी का नाम इस तीर्थ के साथ प्रसिद्ध हो।" भगवान् "तथास्तु" कह कर अन्तर्धान हो गए। पति के दिव्यलोक-यात्रा करने पर विशाखा ने वहां बड़ा भारी आराम बनवाया और नगर बसाया। तब से इस तीर्थ का नाम विशाखा पड़ गया। यहां तक कि देवी के शरीर-त्याग के पश्चात् भी उसका नाम चलता रहा और लोग अयोध्या का नाम भूलकर विशाखा ही कहते रहे।

—श्री चित्रकूट की बुढ़िया।

समाप्त

कष्ट उठाने की ज़रूरत नहीं है, उनको एक ही स्थान से सब प्रकार की पुस्तकें मिल सकती हैं। इसमें उनका खर्च कम होगा और आसानी से सब किताबें घर बैठे मिल जाया करेंगी। हमारा उद्देश्य है कि हम हिन्दी में उच्च कोटि की समस्त विषयों की पुस्तकें प्रकाशित करें, जिसमें शुद्ध साहित्य का प्रचार हो। हिन्दी में जिस तेज़ी के साथ अश्लील और गन्दे उपन्यास और नाटक निकल रहे हैं और मातृभाषा हिन्दी का गला घोंट रहे हैं, उससे यह साफ़ मालूम होता है कि नवयुवकों का मन और आचरण कभी पवित्र नहीं हो सकता। राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति के लिए शुद्ध और नवयुवकोपयोगी साहित्य की अत्यन्त आवश्यकता है। हमारी भी यही मनस्कामना है कि हम हिन्दी में अच्छा से अच्छा साहित्य निकाल सकें, जिसको पढ़कर आजकल के नवयुवक अपनी दशा सुधार सकें। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए हमें ग्राहकों की सहायता की ज़रूरत है। हमारे स्थायी ग्राहक जितने अधिक होंगे हम उतनी ही अधिक उनकी सेवा कर सकेंगे और जल्दी जल्दी उत्तमोत्तम पुस्तकें निकाल सकेंगे। स्थायी ग्राहकों की प्रवेश शुल्क ॥) है—इसको जमा करने से 'साहित्य-भवन ग्रंथमाला' का समस्त पुस्तकें जो प्रकाशित हो चुकी हैं और जो आगे प्रकाशित होंगी वो सब पौनी क़ीमत में मिलेंगी। साल में हर ग्राहक को कम से कम ५) की पुस्तक लेना आवश्यक है इससे अधिक लेना न लेना उसकी इच्छा पर निर्भर है।

विशेष बातें जानने के लिए)॥ का टिकट भेज कर बड़ा सूचीपत्र मुफ़्त मंगाइये—

मैनेजर—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।